परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ

अंक २
२०२७ विक्रमी

भारतीय साहित्यकार संघ की मुख पत्रिका

श्रेय

संपादक
डा० रामदत्त भारद्वाज-मोहनलाल श्रीवास्तव

सहायक संपादक
अश्विनी कुमार वर्मा

सौन्दर्यं साहितीनां जगति भरतभूर्निर्मितानां नितान्तं।
भूयात् सञ्चारयन्ती प्रयतमतिरियं पत्रिका विश्ववन्द्या ॥
पन्थानं दर्शयन्ती सरसमधुरिमापूरितं श्रेयसः स्वं।
श्रेयोनाम्ना प्रसिद्धा गमयतु सुयशःसाहितीकारसङ्घम् ॥

आचार्य अमृतवाग्भव

अंक २—आषाढ़ २०२७ वि०

मूल्य १.५० प्रति
५ ०० वार्षिक

संपादकीय कार्यालय—सी ३/३१ ए राजौरी गार्डन, नई दिल्ली-२७
दूरभाष—५८६८८५

अंतर्वस्तु

संपादकीय

दिल्ली में कुछ दिनों पूर्व "आस्था और आस्थावान साहित्यकारों" से सम्बन्धित विचार गोष्ठियों में "संग्रहणीय, संरक्षणीय और आस्था" की चर्चा तो खूब हुई परन्तु इनकी व्याख्या नहीं की गई। प्रतिकूल आस्थाओं से उत्पन्न वैचारिक संक्रमण, विदेशी साहित्य का व्यापक प्रचार तथा आत्म-प्रभाव-शून्यता उक्त गोष्ठियों के विचारकों की चिन्ता के विषय थे। जहां तक आस्था केन्द्रित साहित्य का प्रश्न है, यह कहना कठिन है कि आस्थाएं अपने मूलरूप में एक जैसी बनी रहेंगी और तदनुरूप साहित्य से कल्याण-मार्ग प्रशस्त होता रहेगा। **आस्थाओं का अस्तित्व उपकारणिक होने से केवल आस्था की ही बात गुत्थी नहीं सुलझाएगी। आस्था की सीमाएं परिवर्तनशील हैं और पक्ष तथा विपक्ष में अनुकूल एवम् प्रतिकूल हो सकती हैं। यदि आस्थाओं का आधार शाश्वत धर्म में (रिलीजन से सर्वथा विलक्षण) खोजकर विचार श्रृंखलाओं को व्यावहारिक रूप दिया जाता है तब तो कल्याण की आशा की जा सकती है।** पश्चिमी प्रभाववादियों और ईसाई विद्वानों द्वारा भारतीय आस्थाओं को विकृत करके भारतीय संतति को ज्ञातव्य रूप में जो स्वीकार करवाया गया है उसी का परिणाम है कि **लोग वेदों से पूर्व भारतीय संस्कृति के** अस्तित्व की बात आधिकारिक रूप में करके भी समादृत रहते हैं। इसलिए भारतीय-विद्वानों को पहिले आस्थाओं के आधार और स्वरूप की व्याख्या करनी होगी। मात्र **आस्थाओं के जयघोषों** से साहित्य में आस्था की प्रस्थापना नहीं होगी।

हमारा नम्र निवेदन है कि धर्म मूलक्रिया प्रदत्त है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया का अस्तित्व धर्मरहित नहीं हो सकता। अतः धर्माधृत विचार सेतु का ही अवलम्बन ग्रहण करना चाहिए। ऐसे विचारों को प्रतिगामी या प्रतिक्रियावादी विचार कहना केवल योजनावश की गई आलोचना का लक्षण कहा जाएगा। सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय का आधार धर्म है। यह बात दूसरी है कि इसकी अभिव्यक्ति भिन्न रूपा है। भारतीय काव्य शास्त्र में भी काव्य साधना की श्रेष्ठ उपलब्धि के रूप में पुरुषार्थ चतुष्टय को ही अनेक आचार्यों ने महत्व दिया है। सम्भवतः साहित्य के "हित" पक्ष

को ध्यान में रखकर ही ऐसा किया गया है। भारतीय साहित्य श्रेयमार्गी विशेषताओं से पूर्ण है। आत्मा की शाश्वतता और व्यापकता भारतीय धर्म-विचार का विशेष प्रकरण है और इसका इतना गभीर प्रभाव है कि भारतीय चिन्तन को आत्मवादी चिन्तन की संज्ञा दे दी गई है।

साहित्य-क्षेत्र में यदि धर्म-अधर्म, दैवी-आसुरी, साधु-असाधु तथा न्याय्य-अन्याय्य की भित्तियों पर वैचारिक संशोधन तथा परिशोधन का कार्य होगा तब तो कल्याण मार्ग की बात न्यायोचित कही जा सकती है। मात्र शास्त्रीय पक्ष-विपक्ष अथवा साम्यवादी खेमे की "आस्था-अनास्थावादी" झड़पों को अपने घर में विवाद की वस्तु बनाने से लाभ नहीं होगा।

ध्यान देने की बात तो यह है कि ऐसे विचारक जिन्हें कल्याण मार्ग और कल्याण-भाव की चिन्ता है वे एक जुट होकर आसुरी और अधार्मिक प्रवृत्तियों के विरुद्ध क्यों नहीं लड़ते ? बातचीत तो आस्था की होती रहे और व्यवहार-क्षेत्र में अधार्मिकता का बोलबाला हो, व्यक्तित्व के अहम् की संपूज्यता को प्रस्थापित करने के प्रयास होते रहें, और अनुकूल चिन्तकों और शुभचिन्तकों को गुटबन्दी के कारण निरन्तर उपेक्षित और अपमानित किया जाए ये बातें समझ में नहीं आती।

प्रश्न है भारत को अभारत बनाने वाले वैचारिक दावानल को शांत करके स्वराष्ट्रिय जयिष्णुता की सुषमा को कैसे बचाया जाए ? क्या यह कार्य संस्था के सामने सस्था, व्यक्ति, के सामने व्यक्ति, भाव के सामने भाव और प्रभाव के सामने प्रभाव खड़ा करके प्रतियोगिता के आधार पर पूरा किया जासकेगा या समवेत शक्ति और समवेत स्वर से भारतीय मानस में अपना श्रद्धाभाव रोपण करते हुए स्वराष्ट्र के अभ्युदय की चिन्ता में निरन्तर स्वार्थ रहित सक्रियता से किया जा सकेगा ? विचारवान और सत्व गुण प्रधान व्यक्तित्व दूसरी विधि को ही महत्व देगा, इसमें सन्देह नहीं है। इसीलिए पहले धर्म-अधर्म, देव-असुर और साधु-असाधु की पहचान करनी होगी फिर कार्यक्षेत्रों का बनाना-बिगाड़ना होना चाहिए।

लेखक-परिचय

१—डा० आदित्यनाथ झा

विश्वविख्यात विद्वान् महामहोपाध्याय डा० गंगानाथ झा के सुपुत्र, संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी के भूतपूर्व उपकुलपति, भारत सरकार के केन्द्रीय मंत्रिमंडल के भूतपूर्व सचिव, सर गंगानाथ झा रिसर्च इन्स्टीट्यूट इलाहाबाद के संचालक सदस्य और सम्प्रति दिल्ली के उपराज्यपाल।

२—आचार्य अमृतवाग्भव

विरक्त विद्वान्, ब्रह्मनिष्ठपुरुष, तंत्र तथा दर्शन साहित्य के विशेषज्ञ, 'राष्ट्रालोक' 'आत्मविलास' और 'श्री श्रीविंशतिका' शास्त्र के रचियता, सम्प्रति भगवद्भजन तथा साहित्य एवं शास्त्रानुशीलन।

३—आचार्य उदयवीर शास्त्री

प्रसिद्ध सांख्य-विद्वान्, वैदिक विचारक, सांख्यदर्शन का इतिहास, सांख्यदर्शन विद्योदय भाष्य आदि के लेखक, सेठ हजारीमल डालमिया, बिहार राष्ट्र भाषा परिषद्, उत्तरप्रदेश सरकार तथा हिन्दी साहित्य सम्मेलन के मंगला पुरस्कार से सम्मानित, भारतीय साहित्यकार संघ की केन्द्रीय कार्य समिति के सदस्य, सम्प्रति गाजियाबाद में निवास तथा विद्यानुशीलन और लेखन।

४—डा० रामप्रसाद मिश्र

हिन्दी काव्य, उपन्यास तथा आलोचना के क्षेत्रों में अनेक मौलिक ग्रन्थों के रचियता, भारतीय साहित्यकार संघ के संस्थापक-सक्रिय सदस्य, सम्प्रति डी० ए० वी० कालिज (दिल्ली विश्वविद्यालय) में हिन्दी के प्राध्यापक।

५—श्री अश्विनी कुमार वर्मा

भारतीय साहित्यकार संघ की दर्शन परिषद् के संयोजक, केन्द्रीय कार्यसमिति के सदस्य और 'श्रेय' के सम्पादक मंडल के सदस्य।

६—डा० लोकेशचन्द्र

स्व० आचार्य रघुवीर के सुपुत्र, अन्तर्राष्ट्रीय प्राच्य विद्या केन्द्र (सरस्वती विहार) के निदेशक, भारतीय साहित्यकार संघ के अध्यक्ष और वृहत्तर भारत की ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के अनुसंधानकर्त्ता।

७—डा० विष्णुदत्त भारद्वाज

हिन्दी तथा संस्कृत के विद्वान् और हरियाणा की आंचलिक संस्कृति तथा भाषा के विशेषज्ञ।

८—श्री गुरुदत्त वैद्य

हिन्दी के लोकप्रिय उपन्यासकार, सोद्देश्य साहित्य-रचयिता तथा भारतीय धर्म एवं संस्कृति के मौलिक व्याख्याता, भारतीय साहित्यकार संघ के मुख्य संरक्षक

शुभकामनाएँ

"श्रेय" त्रयमासिक का अंक कल प्राप्त हुआ। अपने उद्दिष्ट को पूर्ण करने में पत्रिका यश प्राप्त करे। हिन्दी के विचार प्रवर्तक विभिन्न-कालीन पत्रों में विशिष्ट स्थान प्राप्त करे और अपने भारतीय जीवन की असंख्य पवित्र धाराओं को अभिव्यक्त एवम् परिपुष्ट करने में सफल हो। यही इस सम्बन्ध में भगवच्चरणों में प्रार्थना करता हूँ।

मा० स० गोलवलकर

सर संघचालक, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ

'श्रेय' के प्रथम अंक की प्रति मिली। मुझे आशा है कि आपने प्राचीन भारतीय संस्कृति के आदर्शों को प्रसारित करने के उद्देश्य से जिस पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया है, वह खूब लोकप्रिय सिद्ध होगी और सब पाठकों को अपने पुरातन आदर्शों के प्रति नवीन प्रेरणा मिलेगी।

भक्तदर्शन, शिक्षा राज्यमंत्री

भारत सरकार

त्रय मासिक 'श्रेय' का आद्यन्त अध्ययन अत्यन्त संतोष कारक रहा। सम्प्रति पत्रकारिता जनरुचि अनुगामिनी बनती चली जा रही है। वह अपना जनरुचि-परिष्कार-पक्ष विस्मृत करने में खेद तक का अनुभव नहीं कर रही है। ऐसी स्थिति में 'श्रेय' का अनुशीलन विशेष संतोष उत्पन्न करता है। मैं पराशक्ति से प्रार्थना करता हूं कि वह 'श्रेय' को महान भारत का परिचायक बनाने का श्रेय प्रदान करे।

डा० रामप्रसाद मिश्र

डी० ए० वी० कालिज दिल्ली

भारतीय साहित्यकार संघ की मुख पत्रिका 'श्रेय' का चिर प्रतीक्षित अंक मिला। बधाई स्वीकारें। आवरण, सज्जा एवं विषय चयन की दृष्टि से अंक अच्छा बन पड़ा है।

डा० रामेश्वर दयाल मिश्र
शिवाजी कालिज, दिल्ली

भारतीय साहित्यकारसंघ की मुख पत्रिका (श्रेय) का प्रथमांक मिला, अच्छी सामग्री जुटाई है।

डा० प्रभाकर माचवे

इस सुन्दर प्रकाशन के लिए आपको बधाई। भारतीय साहित्यकार संघ की मुख पत्रिका "श्रेय" का मुझे अध्ययन करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। पत्रिका का प्रस्तुत अंक इसके भावी स्वरूप का परिचय देने के लिए सुन्दर प्रस्तावना है। पत्रिका का प्रत्येक पृष्ठ साहित्यिक और सांस्कृतिक प्रेरणाओं से ओतप्रोत है और हमारे इस विश्वास को दृढ़मूल करने में समर्थ है कि यह पत्रिका इस राष्ट्र को श्रेय मार्ग की ओर ले जाने में सक्षम होगी।

मण्डन मिश्र
निदेशक
श्री लाल बहादुरशास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ

'श्रेय' का प्रवेशांक प्रस्तुत है। अल्प समय में सीमित साधनों से जितनी सुन्दर पत्रिका निकल सकती थी उतनी सुन्दर यह है। सभी साहित्यिक सद्‌गुणों से सम्पन्न।

अशोक कौशिक
सम्पादक शाश्वतवाणी, नई दिल्ली

भारतीय साहित्यकार संघ ने श्रेयस्‌गामी संस्कृति के उदात्त स्वरूप को आगे लाने का इस त्रैमासिक पत्रिका (श्रेय) द्वारा अच्छा प्रयत्न किया है। लेख केवल पठनीय ही नहीं हैं प्रत्युत उनमें चिन्तन-मनन की अच्छी खोजपूर्ण सामग्री भी है।

दैनिक हिन्दुस्तान (साहित्य समीक्षा)
पृष्ठ १०—रविवार ३ मई १९७०

[आचार्य अमृतवाग्भव भारतीय दर्शन तथा तंत्र-ज्ञान के विशेष ज्ञाता और वीतराग पुरुष हैं। भारतीय साहित्यकार संघ पर उनकी विशेष कृपा है। उनकी स्वतः स्फुरित रचना सौंदर्य-सारम् शीर्षक से यहां दी गई है।

सम्पादक]

सौंदर्य सारम्

नवनवरसपारावारमोंकारमूर्तिं
लवणिमनवनीतं सोमसौंदर्यसारम्।
अधिहृदि तममन्दानन्दसन्दोहविन्दुं
करुणमसृणमंहः संहरन्तं नमामि।

आचार्य अमृतवाग्भव

सारांश :—नूतन तथा नितनूतन, रस सागर,
लावण्य तथा कोमल, सोम सौंदर्य का
सार, जिसके हृदय में आनन्द का मूल
विन्दु है, जो कारुणिक और पापहारी है
उसी ओंकार को मैं नमन करता हूँ।

श्रेयः परं श्रेयसे

साहित्यं सहितं हितेन जयतात्
भूत्यै नराणां कृते
दुष्कृत्यं दुरितं विनश्यतु नृणां
भूमौ नितान्तं हृदः
सौजन्यं, चरितं मनस्सु विलसत्
श्रेयः परं श्रेयसे
शुभ्नत्वं लभतां यशः सुकृतिनां
विद्यावतां चेतसि।

—राजपाल शास्त्री "जयेश"

दाक्षिणात्यानां संस्कृतसेवाः

★

आदित्यनाथ झा
उपराज्यपाल दिल्ली

सुविदितमिदम् गीर्वाणवाणीप्रणयिनां यत् विश्ववन्दनीयाऽस्माक पूर्वपुरुषैर्मुनिमहर्षिभिः संरक्षिता भारतीया संस्कृतिः बहुविधविटपवितानाऽपि अनादिकालतोऽनादिनिधनस्य परमात्मनोऽनुकम्पया सर्वतोमुखं प्रसरन्ती यत्किञ्चन सुदृढ़मूलमेकमवलम्ब्य विकसति, तन्मूल संस्कृतमेव । यथा चोच्यते ।

"संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः"
"छन्दोभ्य एव प्रथममेतद् विश्वं व्यवर्तत ।"

सेयं सुरभारती जगदभिनन्दिताऽपि अखण्डब्रह्माण्डभाण्डोद्भासिकाऽपि समस्तजनसेविताऽपि च जननीव भारतीयेषु प्रकृत्या कमप्यलौकिकं स्नेहमभिवर्षति, भारतीयाश्चेमां कामधेनुं निष्कामा अपि परिचरन्ति ।

तत्र यद्यपि न केवलं समस्तप्रदेशमपितु सकलजनमानसमसौ समानरूपेणाधितिष्ठति, तथापि विन्ध्यगिरितो दक्षिणे भारतस्य दक्षिणे त्रिभुजाकारे प्रदेशे यथाऽविरतं स्नेहवारिधारां प्रवाहयन्ती कृष्णा सरित् प्रवहति; तथैव सर्वशुक्लेयं सुरभारत्यपि नैसर्गिकमनुरागमभिवर्षन्ती सोल्लासं प्रवहतीत्यपरोक्षं किल प्रेक्षावताम् ।

यथा चेयमनारतं प्रवहन्ती सुरभारतीभागीरथी दक्षिणभारतीयान् सुपावनशीतलपयःपूरैः प्रमोदयति, तथैव तेषामपि दक्षिणदिग्भवानां सदा सदात्मजानामिवैनां प्रति श्रद्धा, अजस्रमनुष्ठिता वरिवस्या च विलोक्यते ।

साम्प्रतं दक्षिणभारते आन्ध्रतमिलनाड़ - केरल - कर्णाटकप्रदेशेषु क्रमशो याः खलु तेलगू - तमिल - मलयालम - कन्नड़भाषा जनसामान्यमान्यतामावहन्त्यो

विलसन्ति, तासु प्राकृतादिष्वेव संस्कृतस्य पूर्णप्रभावः, संस्कृतशब्दबाहुल्यं च विलोक्यते। तेलगू - कन्नड़ - मलयालम-भाषाणां केवलं लिपितो भिन्नानां वर्णमालापि देवनागरी एवास्ति। तदेतज्जनसामान्यभाषासु देवभाषाप्रभावो दक्षिणभारतीयानां सुरभारत्यां शाश्वतिकमनुरागं स्फुटं प्रकाशयति।

किञ्च सुरसरस्वतीविभूतिभूतं धार्मिकदृष्ट्या दार्शनिकदृष्ट्या काव्यदृष्ट्याच सुप्रथितं 'विद्यावतां भागवते परीक्षे'ति सूक्तेः सूरिनिकरनिकषायमाणं 'श्रीमद्भागवतमहापुराणं' यां किल भक्तिमुपजीव्य प्रसादयतितमां सहृदयहृदयानि सा भक्तिरपि दाक्षिणात्यानां विबुधवाणीदाक्षिण्यन्निरीक्ष्येव दक्षिणभारतमेव जन्मना भूषयाम्बभूव। यदुक्तं पद्मपुराणे——

'अहं भक्तिरिति ख्याता इमौ मे तनयौ मतौ।
ज्ञानवैराग्यनामानौ कालयोगेन जर्जरौ॥
उत्पन्ना द्रविड़े साऽहं वृद्धिं कर्णाटके गता।
क्वचित्क्वचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णताङ्गता॥ इति॥

'श्रीमद्भागवतमहापुराणमपि दक्षिण एव विनिर्मितमित्यपि बहूनां विचक्षणानामस्ति विचारः।

तदेवं विन्ध्यगिरिगुरोरतुलिततपः प्रभावस्य लोपामुद्रापतेरगस्त्यमहानुभावस्य निवासेन समेधितमाहात्म्ये श्रीमद्रामेश्वराद्यसंख्यतीर्थस्थानपरिपूततले दक्षिणभारते यद्येकतो वैदिकवाङ्मयानां सुमहितमनुशीलनं, गभीरतत्त्वगवेषणं परम्परायातस्वर-सुरक्षणञ्च विचक्षणानाकर्षति तदान्यतो दार्शनिकग्रन्थाः, भक्तिसाहित्यानि वेदाङ्गेषु 'मुखंव्याकरणं स्मृतम्' इति शिक्षावचनादभ्यर्हितस्य व्याकरणस्यादर्शभूताः पारेसहस्रं ग्रन्थाः ज्योतिषसाहित्यकाव्यानि च सुरभारतीभाण्डागाररत्नानीव विराजन्ते बुधजन-मानसागारेषु।

श्रीमन्नाथमुनिचरणैरनेकालवारभक्तानां गीतानि संगृह्य वैष्णवसिद्धान्तानां दार्शनिकदृष्ट्या विवेचनञ्च विधाय विबुधवारिधिर्भृशं संवर्द्धितः। पुनरमीषामुत्त-राधिकारितया न केवलं दक्षिणभारतमपितु विश्वमेव विश्वञ्जन्मनाऽलङ्कुर्वद्भिर्वि-शिष्टाद्वैतसिद्धान्तसंस्थापकैः श्रीमद्यमुनाचार्य-रामानुजाचार्यचरणैः, द्वैतमतोल्लासकैः श्रीमन्मध्वाचार्यैः, श्रीराधामाधवमधुरभक्तिसुधारसाप्लावितभक्तहृदयतलैर्निम्बार्काचार्य-

वर्यैः, अद्वैतसिद्धान्तप्रबलसमर्थकैः श्रीशङ्कराचार्यपादैश्च साक्षात्परमेश्वरावतारभूतैर्दर्शनोपनिषत्काव्यस्तोत्रसाहित्यादिविषयानधिकृत्य कृताभिः—'आगमप्रामाण्य'—'सिद्धित्रय'-'गीतार्थसंग्रह' - 'श्रीभाष्य'—वेदान्तदीप-वेदान्तसार-गीताभाष्य-रहस्यत्रय—सौन्दर्यलहरी - प्रपञ्चसार - गीतोपनिषद्ब्रह्मसूत्रभाष्यविवेकचूडामणिप्रभृतिभिरसङ्ख्यसुरवाङ्निबद्धवाङ्मयपरम्पराभिः सुरभारती पारावारं परिपूर्य भूयोभूयः स्वसंस्कृतसूक्तिभिः भारतीया संस्कृतिः संरक्षिता ।

माहेश्वरसूत्राण्युपजीव्य भगवतापाणिनिना प्रणीताया अष्टाध्याय्या न्यूनाधिक्य वार्त्तिकैः परिजिहीर्षुस्तत्रभवान् कात्यायनादिनामभिर्विश्रुतो वाक्यकारः श्रीवररुचिऽपि दक्षिणप्रदेश एवाविर्भूय वार्त्तिकानि स्वर्गारोहणकाव्यं छन्दः स्मृति-नाटकादीनि च निर्माय संस्कृतसागरमुल्लासयामासेतिनाविदितं विपश्चिताम् । 'महाभाष्य' पस्पशाह्निके 'यथालौकिकवैदिकेषु' इति वार्त्तिकं—'प्रियतद्धिता दाक्षिणात्या यथा लोके वेदे च प्रयोक्तव्ये लौकिकवैदिकेषु' प्रयुञ्जते' इत्यादिना व्याचक्षाणो भगवान् पतञ्जलिरमुष्य वररुचे दाक्षिणात्यतां स्पष्टीचकार ।

"यः स्वर्गारोहणं कृत्वा
स्वर्गमानीतवान् भुवि ।
काव्येन रुचिरेणैव
ख्यातो वररुचिः कविः ।
न केवलं व्याकरणं पुपोष
दाक्षीसुतस्येरितवार्त्तिकैर्यः ।
काव्येऽपि भूयोऽनुचकार तं वै
कात्यायनोऽसौ कविकर्मदक्षः ।।

—इति महाराज समुद्रगुप्तकृत 'कृष्णचरित' पद्यैः : जल्हणप्रणीत सूक्तिमुक्तावल्यां राजशेखरकृतितयोद्धृतेन—

'यथार्थता कथं नाम्नि माभूद्वररुचेरिह ।
व्यधत्तकण्ठाभरणं यः सदारोहणप्रियः ।।'

इति पद्येन च कात्यायनस्य कवित्वादि स्फुटं प्रकाशते ।

प्रक्रियाप्रकारेण दार्शनिकदृष्ट्या च पाणिनीयव्याकरणं परिष्कुर्वतां समस्तशास्त्रेषु विश्रुतकृतीनां सर्वतन्त्रापरतन्त्रमतीनां श्रीमद्भट्टोजिदीक्षित-कौण्डभट्ट- हरि-

दीक्षित-नागेशभट्ट-पण्डितराजजगन्नाथाप्पयदीक्षितप्रभृति विद्वत्तल्लजानां वैयाकरण-सिद्धान्तकौमुदी-शब्दकौस्तुभ-प्रौढ़मनोरमा-वैयाकरणभूषणशब्दरत्न - शब्देन्दुशेखरोद्योत-वैयाकरणसिद्धान्त-वृहल्लघुपरमलघुमञ्जूषा - रसगङ्गाधर - चित्रमीमांसाऽदि विलक्षण कृतयो निष्कलङ्ककलाधरकला इव विराजमानाः सुरभारतीमयाः सरस्वत्यो न केवलं भारतमपितु विश्वमशेषं विषयीकुर्वन्ति ।

एभ्योऽर्वाचीना अपि सी० आई० ई० पदभाजो ज्योतिर्विदग्रगण्य-महामहोपाध्यायपण्डितबापूदेवशास्त्रिणः बालसरस्वतीस्वरूपाः पण्डितबालशास्त्रिणः महामहोपाध्यायलक्ष्मणशास्त्रिप्रभृतयो विद्वद्वन्दनीया दिव्ययशोऽवदाततनुभिर्विद्योतमानाः संस्कृतसागरस्यामूल्यरत्नभूताः सुरगिरो यामनन्यसामान्यां सेवामकार्षुस्तां मुखसहस्रेणापि वर्णयितुं न प्रभवति शेषोऽपि ।

आशास्महे परम्परायातेयममरभारतीपरिचर्य्या दक्षिणभारते प्रतिक्षणमवलक्षपक्षक्षपानाथकरनिकर इवैधमाना मानोन्नतान् विधास्यति निखिलानेव भारतीयान् ॥

सारांश

संस्कृत के ज्ञाताओं को यह ज्ञात है कि भारतीय संस्कृति की सुरक्षा का मूल कारण संस्कृत है । इसके संरक्षण में भारतीय निष्काम भाव से सेवा-रत हैं । समान रूप से सर्वत्र सन्मानित होने पर भी संस्कृत का विकास और संरक्षण दक्षिण प्रदेश में अपेक्षाकृत अधिक स्तुत्य है ।

संस्कृत का तेलगू, तमिल, मलयालम, कन्नड़ आदि दाक्षिणात्य भाषाओं पर न केवल प्रभाव ही है अपितु लिपि भिन्नता होने पर भी सभी में देवभाषा का प्रकाश प्रस्फुटित हो रहा है। धार्मिक, दार्शनिक एवं काव्य दृष्टि से भी दक्षिण प्रदेश ही महान चिन्तन और भक्ति का स्रोत है। श्रीमद्भागवत पुराण की रचना दक्षिणदेशीय मानी जाती है ।

वैदिक वाङ्मय के गम्भीर चिन्तन से लेकर व्याकरण, ज्योतिषादि विषयों के अनुशीलन का प्रसिद्ध प्रदेश दक्षिण ही है । वैष्णव सिद्धान्तों, तथा अद्वैत सिद्धान्तों के प्रवर्तक एवम् प्रचारक दाक्षिणात्य ही थे। पाणिनीय अष्टाध्यायी पर वार्तिक

रचना करने वाले वररुचि भी दाक्षिणात्य ही थे। यह बात महर्षि पातंजलि ने भी मानी है।

श्रीमद्भट्टोजिदीक्षित से लेकरपंडितराज जगन्नाथ आदि तक के ग्रन्थ संसार के ज्ञान का कारण बन गए। श्री बापूदेव शास्त्री, श्री बालशास्त्री, तथा महामहोपाध्याय लक्ष्मण शास्त्री आदि विद्वानों ने संस्कृत भाषा की जो असामान्य सेवा की है वह वस्तुतः स्तुत्य है। आशा है, संस्कृत निरंतर शोभा देने वाली पीयूष वर्षिणी भाषा के रूप में भारतीयों का श्री सौभाग्य बढ़ाती रहेगी।

[राष्ट्रिय संदर्भ में—भारतीय साहित्यकार संघ दिल्ली के अधिवेशन जुलाई १९६८ में दिया गया व्याख्यान—सं०]

भारतीय तंत्र साहित्य और उसकी दार्शनिक भूमिका

★

आचार्य अमृतवाग्भव

भारतीय साहित्यकार संघ की इस समास्या में भारतीय तंत्र साहित्य और उसकी दार्शनिक भूमिका पर विचार प्रस्तुत करने के लिए मुझ से कहा गया है। तन्त्र भी एक महान साहित्य का अंग है। इस पर कुछ मौलिक गोष्ठी होनी चाहिए। मैं शान्ति पाठ के तौर पर इन दो मन्त्रों को पढ़ूंगा।

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवा: स्वस्ति न: पूषा विश्ववेदा:।
स्वस्तिनस्ताक्ष्यों अरिष्टनेमि: स्वस्ति नो वृहस्पतिर्दधातु ॥
अष्टौ देवा वसव: सोम्यास: चतस्रो देवीरजरा: श्रविष्ठा:।
तं य ज्ञं पान्तु रजस: परस्तात् संवत्सरीणममृतँ स्वस्ति ॥

वृद्धश्रवा इन्द्र से कल्याण की सबसे पहले प्रार्थना की गई है। वृद्धश्रवा का तात्पर्य है "जिसने बहुत सुना है" और वही वास्तविक इन्द्र पद का अधिकारी है। यदि किसी को परमैश्वर्य सम्पन्न बनना है तो वृद्धश्रवा होना ही पड़ेगा। बहुश्रुत पुरुष ही समाज, देश और राष्ट्र की सुव्यवस्था कर सकता है और अपने आपको, अपने देश को, अपने समाज को तथा विश्व को भी सुखी कर सकता है। इसके लिए भारतीय साहित्य का एक प्रधान अंश तन्त्र साहित्य ज्ञेय है। लोग तन्त्र के विषय में ठीक ठीक धारणा नहीं कर पाए हैं। बहुत से लोग इसका अस्त-व्यस्त अर्थ कर रहे हैं। मैं आज तन्त्र के विषय में संक्षिप्त रूप से कुछ कहूंगा।

तंत्र क्या है ?

तन्त्र शब्द का अर्थ है मुख्य-प्रधान । तन्त्र का अर्थ है विस्तार । 'तनुविस्तारे' और "त्रैङ् पालने" के लिए यह समझना आवश्यक है कि विस्तार करने से जो रक्षा करे । इससे तो यह मानना ही पड़ेगा कि जो विस्तार हितकर हो वही हमारी रक्षा करेगा । विस्तार किसी वस्तु का होगा । जो वस्तु है उसी का विस्तार होता है । जो नहीं है उसके विस्तार का प्रश्न ही नहीं । अतः इसके उत्तर की आवश्यकता नहीं है । इससे यह सिद्ध होगया कि जिस वस्तु का विस्तार करना है वह भी हमारे लिए हितकर है । उसी को हम मन्त्र कहते हैं । क्योंकि **"मननात् त्रायते"** मनन करने से जो रक्षण् करे वह मन्त्र है । **"मनु अवबोधने"** और **"त्रैङ् पालने"** के अनुसार यहां यह भी इससे निश्चित हो गया कि मनन करने की शक्ति का भी ज्ञान होना चाहिए और उसके लिए बतलाने वाले शब्द या अक्षर राशि का भी ज्ञान आवश्यक है । उसी को मन्त्र कहते हैं । अब यह भी सोचना है कि जिस शक्ति का हम मनन करेंगे और वह शक्ति जो हमारा रक्षण करेगी, हमारी हितकारिणी ही हो । वह शक्ति कहाँ रहती है, उसका केन्द्र कहाँ है, वह वस्तु क्या है ? इन सबका ज्ञान करना पड़ेगा तथा उसका सम्पादन भी करना पड़ेगा और वह हमारे अधीन होनी चाहिए । उसके ऊपर हमारा स्वत्व और सत्ता स्थापित होनी चाहिए । साथ ही इन तीनों के ऊपर हमारी पूर्ण श्रद्धा होनी चाहिए । यह तीसरी वस्तु यंत्र है ।

यंत्र का अर्थ-सम्बन्ध

यन्त्र का सीधा अर्थ है—जिसको अपने पास रखने से हमारी रक्षा हो "यम् उपरमे" और त्रैङ् पालने" पर ध्यान दें तो इस तरह से यन्त्र, मन्त्र और तन्त्र ये तीनों ही बातें साथ साथ हैं । जो वस्तु है असने पास है, उसकी शक्ति से क्या क्या बनाया जा सकता है, उसकी क्या क्या शक्ति है और उसका विस्तार करने से हमारी रक्षा होगी ये सभी बातें तन्त्र से सम्बन्धित हैं । जो हितकर नहीं होगा वह रक्षा नहीं करेगा । ऐसी वस्तु या यन्त्र जो आपके पास हो और आपकी रक्षा न करता हो, यन्त्र नहीं है । जो आपके हित में होगा और आपकी रक्षा करेगा वही यन्त्र होगा । ऐसे ही मन्त्र और ऐसे ही तन्त्र हैं ।

संक्षेप में आप समझ लें कि **"इच्छा शक्ति ही यन्त्र है।" "ज्ञान शक्ति ही मन्त्र है"** और **"क्रिया शक्ति उसका तन्त्र है।"** इसके लिये बहुत लम्बा चौड़ा कहने की आवश्यकता नहीं है। जैसे आपके पास रुई है। आपके यह पूर्ण अधिकार में है। आप उसका चाहे जो कर सकते हैं तथा आपको ज्ञान है कि उस रुई से सूत निकाल-कर वस्त्र बनाये जा सकते हैं और अन्य प्रयोग भी किये जा सकते हैं—यह शक्ति उसमें है—तभी आप उससे पहनने के लिये तरह तरह का वस्त्र बना लेते हैं जिससे आपकी रक्षा होती है। **यही रुई का तंत्र हुआ। अतः रुई यन्त्र है उससे निर्मित पदार्थ तन्त्र है और उसके पदार्थ निर्माण करण का ज्ञान मन्त्र है। इस तरह से प्रत्येक वस्तु यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र बन जाएगी।**

सारांश यह कि "कारण जिसको आप कारण रूप में स्थापित करेंगे वह यन्त्र उसकी शक्ति का ज्ञान मन्त्र और उससे उत्पन्न उसका विस्तार तन्त्र है।

इस प्रकार सम्पूर्ण विश्व को आप तन्त्र, मन्त्र, यन्त्र इन तीनों रूपों से क्रम से अक्रम से और विक्रम से देख सकते हैं चाह सकते हैं, जान सकते हैं और कर भी सकते हैं।

वेद और तंत्र-मंत्र-यंत्र

आज वेद नाम से जिन पुस्तकों को या जिन ग्रन्थों को जाना-माना जाता है वे सब ब्राह्म वेद का यन्त्र मन्त्र तन्त्र है। यदि इस बात को आप समझ लेंगे तो ब्राह्म-वेद से ऊपर वैष्णव-वेद, उसके ऊपर रौद्र-वेद, उसके ऊपर ऐश्वर वेद, उसके ऊपर सादाशिव वेद, उसके ऊपर शाक्त वेद, और उसके ऊपर शैव वेद का क्रम जान जाएँगे। सिद्ध सम्प्रदाय के इन रहस्यों को यहां ज्यादा प्रकट करना अच्छा नहीं है। हाँ व्यवहार में आज ब्राह्म वेद को ही केवल वेद या निगम कहते हैं। इनके ऊपर के जितने वेद हैं उनको आगम या तन्त्र कहने लग गए हैं। वस्तुतः क्या है यह पहले बताया जा चुका है। देखिए—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तँह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥

इस श्रुति से स्पष्ट ही प्रतीत हो जाता है कि परमेश्वर ने ब्रह्मा को उत्पन्न किया और उसको वेदों का उपदेश भी दिया। तो वे वेद कौन से थे ? इससे मानना ही पड़ेगा कि आज जैसा व्यवहार पहले नहीं था। वेद शब्द का अर्थ तो ज्ञान-राशि, ज्ञान प्रतिपादक शब्द राशि और उन शब्दों की लिखी पुस्तकें हैं। इस दृष्टि से सम्पूर्ण ज्ञान वेद है। हम व्यवहार चलाने के लिये सभी स्थापनाएँ करते रहते हैं। उसी में सीधी उल्टी परिभाषाएँ बनाते हैं और उसी में मतमतान्तर कल्पित करके उन्हीं छोटी छोटी बातों को विस्तार से बता बताकर यन्त्र, मन्त्र और तन्त्र की सृष्टि करते हैं। रुचि और हित इसी के आधार पर इधर उधर होता रहता है।

हित और दृष्टि

किन्तु यह भी देखना होगा कि रुचि **प्रेय मूलक है** और हित **श्रेय मूलक है**। आपको यह विचार करना होगा कि आप प्रेय चाहते हैं या श्रेय ? इसके साथ ही यह भी व्यवस्थित रूप से विचार करना ही होगा कि व्यक्ति रुचि, व्यक्ति हित और समष्टि रुचि, समष्टिहित क्या है ? हित से कल्याण होगा यह तो निश्चित ही है। परमेश्वर में जो कि मूल बिन्दु है वही अनन्त बिन्दु और बिन्दु के बिन्दु हो होकर अपना यन्त्र-मन्त्र-तन्त्र बनाता रहता है। इसीलिए व्यष्टि-दृष्टि और समष्टि-दृष्टि के व्यवहार में न्याय हमें रखना पड़ेगा। **"अधिभूत जोकि क्रियाशक्ति का विस्तार है, अधिदैव जो कि ज्ञान शक्ति का विस्तार है और अध्यात्म जो कि इच्छा शक्ति का विस्तार है, इन तीनों को अलग अलग दृष्टि से व्यवस्थापित करना होगा।** किसी व्यक्ति की दृष्टि से हिताहित, रुचि-अरुचि और हो सकती है वही दृष्टि प्रान्त-दृष्टि से, राष्ट्र-दृष्टि से, और विश्व-दृष्टि से अलग-अलग होगी। राष्ट्र को राष्ट्र-दृष्टि से ही देखना होगा तभी राष्ट्र की सुव्यवस्था होगी। परन्तु इसमें प्रान्त, देश, ग्राम और व्यक्ति इन सभी को सुव्यवस्थित अर्थात् जिस जिस स्थान पर जो होना चाहिए वो विचार पूर्वक करना होगा।

साहित्य-तंत्र

अधिभूत की सुव्यवस्था करने के लिए आधिभौतिक दृष्टि रखनी ही होगी। ऐसे ही अधिदैव और अध्यात्म के लिए आधिदैविक और आध्यात्मिक दृष्टियों का

सदुपयोग करना होगा। मुझे बड़े खेद से कहना पड़ रहा है कि जिस साहित्य-तन्त्र का आज विस्तार किया जा रहा, क्या वह तन्त्र है? क्या आपकी वास्तविक रक्षा उससे होगी? यह विचार कर लीजिए कि निरर्थक विस्तार और बुरी बातों का विस्तार दोनों ही कुतन्त्र हैं जो नाश करते हैं। ये अव्यवस्था और कुव्यवस्था उत्पन्न करती हैं। इसलिए सबसे पहले शांति पाठ में वृद्धश्रवा से कल्याण की मांग की गई है। इसीलिए हमारे यहाँ रहस्य ग्रन्थ में महामाया जगदम्बा महाशक्ति जोकि अनन्त अनन्त ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति का मूल कारण है, उसके लिए उल्लेख है—

"महातन्त्रा महामन्त्रा महायन्त्रा महासना"

यदि महासन (ऊँचे आसन) की प्राप्ति करनी है तो आपको महायन्त्र होना ही पड़ेगा, महायन्त्र होने से ही काम नहीं बनेगा उसके लिये महामन्त्र होना पड़ेगा और उसके लिए भी महातन्त्र होना पड़ेगा और इन सबके लिए वृद्धश्रवा होना पड़ेगा। इसके लिए सभी प्रकार का सुज्ञान और विज्ञान सम्पादित करना होगा। जो राष्ट्र यह कहने का पूर्ण साहस और अधिकार रखता था कि—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः—

भारत के पतन का कारण

क्या वह देश आज यह बात कह सकता है? यह बात तब कही जा सकती है जब हम भारतीय अपनी संस्कृति का विस्तृत और सुव्यवस्थित ढंग से अध्ययन करके ज्ञान-विज्ञान प्राप्त करलें। क्या आज हमारा आदर्श भारतेतर लोगों के लिखे हुए कुरुत्रिपूर्ण ग्रन्थों का अध्ययन करके स्थान-च्युत नहीं हो रहा है? क्या हम इनसे अपने आदर्शों की स्थापना कर सकेंगे? आज भी हमारे पास जो ग्रन्थ सम्पत्ति और ज्ञान सम्पत्ति है उसका प्रतिभट कोई नहीं है। मैक्समूलर जैसे विदेशी हमारे वेदों के आध्यात्मिक और आधिभौतिक ज्ञान पर मुग्ध होगए और हमारे आदर्श पुरुषों की नीतियों को स्वीकार करके उनके ऊपर लाखों रुपए खर्च कर गए परन्तु हमने अपने तत्त्वज्ञान, विज्ञान और सुज्ञान की ओर ध्यान नहीं दिया। न तो हम अपने आदर्श पुरुषों को मानते हैं, न उनके कथनों का अध्ययन करते हैं और न उनकी

किसी अच्छी बात को चरित्र में ढालते हैं, तब बताइए भारत का कल्याण कैसे होगा ?

जिस देश में शत्रु को शत्रुदृष्टि से, मित्र को मित्रदृष्टि से और उदासीन को उदासीन दृष्टि से देखना सुनना भुला दिया जाता है या उपेक्षित कर दिया जाता अथवा जानबूझकर भी हेय समझा जाता है उस राष्ट्र का संसार में विनाश सिवाय और क्या होगा ?

चेतावनी

हम भारतीयों को सर्वदा इस बात का स्मरण रखना होगा कि हमारे आ पुरुष जिनमें हम लगभग सभी को ईश्वरावतार मानते हैं, उनकी नीति पर नहीं तो कल्याण की आशा नहीं हो सकती ।

वेद और सत्साहित्य का उद्धार

किसी समय शंखासुर ने भारतीय वैदिक साहित्य को पाताल लोक में प दिया था । उसके उद्धार के लिए ही मत्स्यावतार हुआ था और शंखासुर को मा वेदों का उद्धार किया गया । जिस देश का सत्साहित्य नष्ट हो जाता है भगवान को अवतार लेना पड़ता है । कूर्मावतार में भगवान विष्णु ने मोहिनी धारण कर समुद्र को मथकर निकाले हुए अमृत का बटवारा सुरों-असुरों में प्रकार किया था, क्या हम भारतीयों को इस पर ध्यान नहीं देना चाहिए ?

धर्म निरपेक्षता की झूठी डींग हांकने वालों को यह नीति कहां सम आएगी ? वामनावतार लेकर भगवान ने असुरों को किस प्रकार परास्त किय —क्या यह स्मृति के योग्य नहीं है ? परशुराम अवतार ने जो कार्य किया है भी उसका प्रभाव थोड़ा बहुत है । इसी प्रकार भगवान राम और भगवान कृष नीतियाँ भारतीयों के पास होते हुए भी यदि हम उनका अनुसरण नहीं क कौन से आदर्शों पर चलेंगे ? क्या चाणक्य ने जिस भारत की सुदृढ़ व्यवस्था वह लम्बा-चौड़ा भारत आज है ? क्या उसकी व्यवस्था का कोई महत्व नह आज बहुत छोटे से टुकड़े को भारत नाम देकर और उसकी भी सुव्यवस्था न क्या भारतीय आदर्श के अनुकूल है और क्या इस प्रकार हमारा हित होगा ?

मेरा निवेदन है कि आदर्श पुरुषों को स्वीकार कीजिए और उनकी नीतियों पर चलिए तभी हमारा कल्याण होगा । इस सम्बन्ध में हमने अपने ग्रन्थ "श्री राष्ट्रालोक" के भाष्य "श्री राष्ट्रसंजीवन में' विस्तृत चर्चा की है ।

भारत से सम्बन्ध

जो भारत को पितृभूमि और पुण्यभूमि पूर्ण रूप से मानता है वही भारतीय है । वही भारत का राष्ट्रिय है । जो लोग इसे इस सम्बन्ध में स्वीकार नहीं करते वे भारत के अतिथि हो सकते हैं, परन्तु वे भारत के राष्ट्रीय कदापि नहीं हो सकते हैं । जो लोग भारतेतर देशों के यन्त्र-मन्त्र-तन्त्र यहां भारत में प्रचारित करना चाहते हैं वे भारत द्रोही हैं चाहे वे शरीर से भारतीय दीखते हों । उनसे भारत के कल्याण की आशा करना आकाश के फूल ही तोड़ना है ।

यदि भारतीयों को जीना है तो पूर्ण शक्ति सम्पन्न भारतीय आदर्श के अनुसार भारतीय संस्कृति और भारतीय शासन व्यवस्था की सुरक्षा करनी होगी शक्ति की महिमा भगवान शंकराचार्य ने सौंदर्य लहरी स्तोत्र के एक श्लोक में थोड़ी सी दर्शाई है उसे यहां प्रस्तुत करना शुभ है ।

तनीयांसं पांसुं तव चरणपङ्केरुहभवं
विरञ्चिः सञ्चिन्वन् विरचयति लोकानविकलम् ।
वहत्येनं शौरिः कथमपि सहस्रेण शिरसां
हरः संक्षुद्यैनं भजति भसितोद्धूलनविधिम् ॥

उस महाशक्ति के चरणकमल रज के सबसे छोटे टुकड़े को ब्रह्मदेव बटोरकर अनन्त अनन्त विश्वों की रचना करता है । जिसका भार धारण करने के लिए भगवान विष्णु हजारों अपने शिर बनाकर शेष रूप से शिर पर धारण करते हैं और संहार काल में सबको भस्मकर (भगवान शिव) अपने शरीर की विभूति में इसका उपयोग करते हैं । यह एक शक्ति के चरणकमल के सबसे छोटे टुकड़े की महिमा है ।

भारतीयों को अपनी शक्ति का उद्‌बोधन, संचालन और सदुपयोग करते हुए अपनी मातृभूमि रूपिणी भारत भूमि की सत्पुत्रों के समान सेवा करनी चाहिए ।

आज इतनी भयानक स्थिति हो गई है कि भारतीयों को यह भी समझ नहीं आ रहा कि एक ओर अपने राष्ट्र को माता कहना और दूसरी ओर उसके पति और उसके पिता अपने आपको कहलाना कहाँ तक उचित है ? ऐसी घोर निंदनीय बातों का भी विचार लुप्त होगया है। यदि हम पूछें कि हिन्दुओं का देश कौनसा है तो क्या उत्तर मिलेगा ? कोई भी नहीं। जो जाति करोड़ों की संख्या में है उसे भूमिरहित, गृहरहित और खानाबदोश बनाया नहीं जा रहा है ?

अतः भारतीय तन्त्र साहित्य की दार्शनिक पीठिका परिपूर्ण शक्ति है। परमेश्वर परिपूर्ण है। यह व्यक्ति, समाज और राष्ट्र तथा विश्व रूप में भी प्रकट होता है। "अमृतस्य पुत्राः" का विशेषण धारण करने वाले भारतीय उसी परमेश्वर के अनन्य भक्त हैं तो उन्हें यह सिद्ध करना होगा कि वे "अखंड हैं" तभी उनका यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र सार्थक सिद्ध होगा। शक्ति इन तीनों ही का आधार है।

न वेत्ति यो यस्य गुणप्रकर्षं
स तस्य निन्दां सततं करोति।

[भारतीय साहित्यकार संघ की दर्शन-परिषद् में पठित निबन्ध—सं०]

वेद एवं सांख्यदर्शन

★

उदयवीर शास्त्री, गाजियाबा

उपक्रम

उपर्युक्त शीर्षक के अनुसार जब हम विचार करते हैं, तो हमारे सन्मुख स्थिति आती है, कि सांख्यदर्शन में जिन सिद्धान्तों की स्थापना की गई है उनका मू रूप अथवा कैसा भी रूप वेदों में उपलब्ध होता है, अथवा नहीं ?

सांख्यविषयक अवैदिकता का प्रवाद

सांख्यदर्शन के विषय में इतिहास के लगभग मध्यकाल से यह प्रवाद प्रच रहा है कि इसकी गणना आस्तिक दर्शनों अथवा वैदिक दर्शनों में होते हुए भी आस्तिकदर्शन अथवा वैदिकदर्शन नहीं मानना चाहिये। इसमें कारण यह बताया है, कि यह दर्शन सृष्टि-प्रक्रिया में ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं क जबकि वेद और समस्त वैदिक साहित्य में इसको सर्वोपरि सत्ता एवं सृ उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय का नियन्ता माना गया है। वैदिक साहित्य के रह उपनिषद् तो इस अर्थ का आरभटी के साथ प्रतिपादन करते हैं। वेद अथवा साहित्य की इस सर्वोपरि मान्यता को इस दर्शन ने उपेक्षित किया है, इसलि वैदिकदर्शन मानना उपयुक्त न होगा। आचार्य शंकर ने तो ब्रह्मसूत्रों [१।४ २।१।१] के भाष्य में स्पष्ट रूप से कापिल तन्त्र को वेदविरुद्ध माने जा उल्लेख किया है। विचार करना चाहिये, कि सांख्यविषयक यह प्रवाद अथवा पर यह आरोप कहां तक साधार हो सकता है।

[१।४।२८] सूत्र के भाष्य में आचार्य ने लिखा है—

प्रधानकारणवादः सूत्रैरेव पुनः पुनराशङ्क्य निराकृतः, तस्य हि पक्षस्योपोद्बलकानि कानिचिल्लिङ्गाभासानि वेदान्तेष्वापातेन मन्दमतीन् प्रतिभान्तीनि......तत्प्रतिषेधे यत्नोऽतीव कृतो नाण्वादिकारणवाद प्रतिषेधे, ...तेषामप्युपोद्बलकं वैदिकं किञ्चिल्लिङ्गमापातेन मन्दमतीन् प्रतिभायादिति । अतः प्रधानमल्लनिबर्हणन्यायेनातिदिशति ।

सांख्य के प्रधानकारणवाद का सूत्रों के द्वारा ग्रन्थ के गतभाग में बार-बार आशंकापूर्वक निराकरण किया है क्योंकि उस पक्ष के पोषक कतिपय प्रमाणाभास उपनिषदों में आपाततः मन्दमति जनों को दिखाई देते हैं,......उसका प्रतिषेध करने में अधिक यत्न किया गया है, अणुकारणवाद आदि के प्रतिषेध में इतना नहीं ।...... कदाचित् उनके पोषक भी कोई प्रमाणाभास मन्दमति जनों को दिखाई देने लगें, इसलिये प्रधानमल्लनिवर्हणन्याय से सूत्रकार अतिदेश करता है—[एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः, १।४।२८],

आगे द्वितीय अध्याय के प्रारम्भ में आचार्य लिखते हैं—

सर्वज्ञ सर्वेश्वरो जगत उत्पत्तिकारणम्, मृत्सुवर्णादय इव घटरुचकादीनाम् ।

सर्वज्ञ सर्वेश्वर ब्रह्म, जगत् का ऐसा ही कारण है, जैसे मट्टी और सोना, घड़े तथा बाजूबन्द के । इससे स्पष्ट ज्ञात होता है—आचार्य शंकर जगत् को ब्रह्म का विकार मानते हैं, अर्थात् ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है । इसी सूत्र [२।१।१] के भाष्य में आगे लिखा—

स्मृतिष्वपीश्वरः कारणत्वेनोपादानत्वेन च प्रकाश्यते ।

स्मृतिग्रन्थों में भी ईश्वर को जगत् का निमित्त तथा उपादान कारण प्रकट किया गया है । इसी सूत्र के भाष्य के अन्तिम भाग में आचार्य ने लिखा—

अतश्च सिद्धमात्मभेदकल्पनयापि कपिलस्य तन्त्रं वेदविरुद्धम्......न केवलं स्वतन्त्रप्रकृतिकल्पनयैवेति ।

न केवल स्वतन्त्र प्रकृति की कल्पना से ही, अपितु आत्मभेद की कल्पना से भी कपिल का तन्त्र वेदविरुद्ध है ।

आचार्य शंकर ने उक्त सन्दर्भों में कापिलतन्त्र को वेदविरुद्ध माने जाने के दो कारण बताये हैं—आत्मा का नानात्व तथा स्वतन्त्र प्रकृति को जगत् का कारण मानना । इनमें से जहां तक पहली बात का सम्बन्ध है, यह कहना दुस्साहसमात्र है, कि वेद अथवा वैदिक साहित्य में आत्मा को नाना नहीं माना गया । आचार्य शकर से पहले, उसके समय में तथा अनन्तर काल में आजतक मूर्द्धन्य वैदिक विद्वानों का बहुत बड़ा समाज वेद के आधार पर आत्मा के नानात्व को बराबर मानता चला आ रहा है । आचार्य ने स्वयं जिस सृष्टिप्रक्रिया को प्रस्तुत किया है, उसका सामञ्जस्य ही आत्मा को नाना माने बिना संभव नहीं हो सकता । बिना किसी कारण के जगत् की रचना को लीलामात्र कह देना विलासी भावना का उद्गार कहा जा सकता है । कतिपय उपनिषद् वाक्यों के आधार पर एकमात्र आत्मा के अस्तित्व का प्रतिपादन करने का प्रयास किया जाता है वह भी 'महावाक्य' आदि के रूप में मूल सन्दर्भों को तोड़-मरोड़कर । जो आत्मनानात्व के प्रतिपादक वाक्य एवं प्रसंग पर्याप्त अधिक संख्या में उपनिषद् आदि के उपलब्ध होते हैं, उनको औपचारिक या गौण कह दिया जाता है । अन्य आचार्य पहले वाक्यों के विषय में यही बात कहते हैं । यहां ऐसे औपनिषद सन्दर्भों का विवेचन अप्रासंगिक होगा । इस विषय को हमारी रचना 'सांख्यसिद्धान्त' तथा 'ब्रह्मसूत्रविद्योदयभाष्य' में सुविधापूर्वक देखा जा सकता है । यहां केवल वेद के आधार पर उक्त सिद्धान्तों के विषय में कतिपय प्रसंगों को प्रस्तुत करना ही लक्ष्य है ।

कापिल दर्शन को अवैदिक माने जाने के लिये दूसरी बात आचार्य शंकर ने लिखी है—स्वतन्त्र प्रकृति को जगत् का कारण बताना । प्रकृति के स्वातन्त्र्य का अभिप्राय यह कहा जाता है, कि अचेतन भी प्रकृति जगत् की रचना में किसी चेतन की अपेक्षा नहीं रखती, केवलमात्र जड़ प्रकृति जगत् के निर्माण में समर्थ रहती है । परन्तु कापिल सांख्य के विषय में आचार्य शंकर का यह कथन सर्वथा निराधार है । कपिल के अनन्तर होने वाले अनेक प्राचीन सांख्याचार्यों में से केवल आचार्य वार्षगण्य

का तथा उसके अनुयायी रुद्रिल विन्ध्यवासी आदि आचार्यों का ऐसा मत कहा जा सकता है, वार्षगण्य आदि के इस विषय के विचारों का उपयुक्त उल्लेख हमने अपनी रचना 'सांख्यसिद्धांत' आदि में कर दिया है। यहां केवल इतना लिख देना आवश्यक है, कि कापिल सांख्य के अनुसार ईश्वर से अधिष्ठित-प्रेरित-नियन्त्रित ही प्रकृति जगत् के निर्माण में समर्थ हो पाती है, सांख्य में प्रकृति के स्वातन्त्र्य का यह तात्पर्य कदापि नहीं है, जो आचार्य शंकर ने समझा या प्रस्तुत किया है। इसलिये आचार्य का यह हेतु भी सांख्य को अवैदिक बताने में सर्वथा निराधार है।

इन आचार्यों की संभवतः यह भावना रही है, कि जो दर्शन ईश्वर [चेतनतत्व = ब्रह्म] को जगत् का उपादान कारण नहीं मानता, वह अवैदिक है। आचार्य शंकर के अनुयायी सम्प्रदाय ने इस भावना का भरपूर प्रचार किया। सांख्य के प्रत्याख्यान में घोषणापूर्वक आचार्य शंकर ने इसी कारण बल लगाया है, इस दर्शन में चेतनतत्त्व के अतिरिक्त जड़ प्रकृति को प्रमाणपूर्वक जगत् का उपादानकारण माना है। प्रकृति के अधिष्ठाता व नियन्ता रूप में चेतनतत्त्व [ईश्वर] को वह स्वीकार करता है। पर वेदान्त की नवीन विचारधारा के विद्वानों ने अतिरिक्त जड़-उपादान तत्त्व के प्रत्याख्यान की भावना से अभिभूत होकर कपिल के इस वास्तविक मन्तव्य की उपेक्षा की, और उसे अवैदिक बताने का दुस्साहस किया। वस्तुस्थिति से देखा जाय, तो कापिल दर्शन की विचारधारा को ही यथार्थ वैदिक माना जाना चाहिये।

यहां इस विषय में यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है, कि शंकर आदि आचार्य इतना महान प्रयास करने पर भी सृष्टिप्रक्रिया में केवल एकमात्र ब्रह्म के अस्तित्व को सिद्ध करने में सफल नहीं होसके, जबकि ब्रह्म के साथ माया अथवा अविद्या नामक तत्त्व को उन आचार्यों ने आवश्यक रूप से स्वीकार किया है, फिर जगत् को उसी का परिणाम और ब्रह्म का विवर्त्त बताया हैं। साथ में यह भी विचारणीय है, कि उन आचार्यों ने ब्रह्म को समस्त विश्व का उपादान नहीं माना, क्योंकि उस सम्प्रदाय में घोषणापूर्वक छह पदार्थों को अनादि स्वीकार किया जाता है।

वेदों में मूल उपादान के निर्देश

अब यह विचार करना अपेक्षित है, कि ब्रह्म अथवा परमेश्वर के अतिरिक्त

किसी अन्य तत्त्व के—जगत् के उपादान कारणरूप में—निर्देश वेद में उपलब्ध होते हैं, या नहीं ? यद्यपि यह विषय अत्यन्त विस्तृत है, और इस विषय की सामग्री जो वेदों में उपलब्ध होती है, उसका संकलन एवं उसके आधार पर विवेचनपूर्वक महती रचना हो सकती है, पर यहां उदाहरणमात्र से कतिपय संकेतों का उल्लेख करना हमारा लक्ष्य है।

वेद में मूल उपादान का वर्णन निम्नलिखित पदों द्वारा किया गया प्रतीत होता है—त्रिधातु, त्रिगुण, स्वधा, वृक्ष, अदिति आदि। इनमें से कोई ऐसा पद नहीं है, जिसकी व्याख्या व्याख्याकारों ने परमात्मपरक की हो। सबसे पहले हम त्रिधातु पद को लेते है।

त्रिधातु

यह पद 'त्रि' और धातु' इन दो पदों के योग से बना है। त्रि' पद निश्चित रूप से तीन संख्या का वाचक है। 'धातु' पद का प्रयोग अनेक अर्थों में देखा जाता हैं। जैसे सुवर्ण रजत आदि खनिज तत्त्व, पृथिवी आदि महाभूत, आयुर्वेद में वात-पित्त-श्लेष्म तथा अस्थि-मज्जा-शुक्र आदि, व्याकरण में 'भू' आदि। इन सब अर्थों में तथा अन्य सम्भावित अर्थों में भी एक ऐसी समानता देखी जाती है, जिससे इस पद के मूलभूत अर्थ का अधिक स्पष्टीकरण हो जाता है। वह समान भाव यह है, कि जो अर्थ धातु पद से कहे जाते हैं, वे स्वयं मूल अथवा आधारभूत तत्त्व हैं, अर्थात् अनेक प्रकार के आगे होने वाले विकारों का आधार या मूल होना, उन तत्त्वों में पाया जाता है। सुवर्ण रजत आदि अनेक विकारों के मूल हैं। वात पित्त आदि शरीर के आधार और अनेक शारीरिक विकारों के मूल हैं। पृथिवी आदि भूत सब प्राणियों तथा अन्य अनेक प्रकार के व्यवहार के आधार हैं। व्याकरण में 'भू' आदि शब्दरचना के मूल आधार माने जाते हैं। इसका अभिप्राय है, कि 'धातु' पद का वास्तविक वाच्य वह तत्त्व है, जो मूल अथवा आधार हो। स्वयं 'धातु' पद के धात्वर्थ के आधार पर इसी अर्थ का स्पष्टीकरण होता है। यह पद धारणार्थक 'धा' धातु से उणादि [१।६९] 'तुन्' प्रत्यय होकर सिद्ध होता है, जिसका अर्थ है—धारण करने वाला, अर्थात् आधारभूत तत्त्व।

इस पद के साथ 'त्रि' का योग होने पर अर्थ हो जाता है—तीन धातु, अर्थात् तीन मूल या तीन आधारभूत तत्त्वों का समाहार-मेल। हम देखते हैं, इस

अर्थ की स्पष्ट व्याख्या सामञ्जस्यपूर्ण रीति पर सांख्य के अनुसार हो सकती है। अखिल ब्रह्माण्ड के आधारभूत तत्त्वों—मूल उपादान कारण—को सांख्य में 'सत्त्व-रजस्-तमस्' इन तीन रूपों में वर्णन किया गया हैं। वे अपनी साम्य अवस्था में 'प्रकृति' पद से कहे जाते हैं। इससे यह अभिप्राय निकलता है, कि वेद में 'त्रिधातु' पद का प्रयोग जिस मूल उपादान के लिये किया गया है; सांख्य में उसीको 'सत्त्व-रजस्-तमस्' की साम्य अवस्था 'प्रकृति' कहा है।

ऋग्वेद में इस पद का प्रयोग लगभग पच्चीस बार हुआ है। यजुष् आदि अन्य वेदों में भी इसका प्रयोग है। सब स्थलों में व्याख्याकारों ने—जैसा जिसको सूझा है—इसका अर्थ किया है। यह संभव है, वेद के कतिपय स्थलों में 'त्रिधातु' पद का 'सत्त्व-रजस्-तमस्' के अतिरिक्त अन्य कुछ अर्थ हो, परन्तु अधिक स्थल ऐसे हैं, जिनमें इस अर्थ का संकेत स्पष्ट प्रतीत होता है। ऐसे कतिपय स्थलों का निर्देश कर देना आवश्यक है। ऋग्वेद [१।१५४।४] का मन्त्र है—

यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्यक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति।
य उ त्रिधातु पृथिवीमुत द्यामेको दाधार भुवनानि विश्वा॥

[यस्य] जिसके [त्री] तीन [मधुना] मधु से-मिठास से [पूर्णा] पूर्ण-भरे हुए अर्थात् मधुर [अक्षीयमाणा] क्षीण न होने वाले [पदानि] पद, [स्वधया] स्वधा के द्वारा [मदन्ति] प्रसन्न रहते हैं। [य उ एक:] और जिस अकेले ने ही [त्रिधातु] त्रिधातु से परिणत अथवा त्रिधातुरूप [पृथिवीम्] पृथिवी को [द्याम्] द्युलोक को [उत] तथा [विश्वा] सम्पूर्ण [भुवनानि] भुवनों-लोकों को [दाधार] धारण किया हुआ है।

यह प्रस्तुत ऋचा का शब्दार्थ है। इस सूक्त का देवता विष्णु है। अर्थात् सूक्त में विष्णु का वर्णन है। विष्णु परमात्मा का अन्यतम नाम है। परमात्मा के तीन पद जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय हैं। सर्वव्यापक अकाय परमात्मा के हमारी तरह के पद नहीं कहे जा सकते। आलंकारिक रूप में प्रकृति को परमात्मा का 'काय-शरीर' उपनिषदों में वर्णन किया गया है। एकमात्र प्रकृति 'उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय' इन तीन अवस्थाओं में परिणत होती रहती है। प्रकृति के ये परिणाम परमात्मा की प्रेरणा के बिना सम्भव नहीं। इसलिये प्रकृति की इन तीन अवस्थाओं

को परमात्मा के मधुपूर्ण पद के रूप में वर्णन किया है। इनको मधुर इसीलिये कहा गया प्रतीत होता है, कि ये पद भोक्ताओं के लिये अनुकूल भोगों एवं अनुपम सुखों को उत्पन्न करने वाले होते हैं। प्रलयकाल में कोई भोग न होने पर भी उस समय प्रकृति की भोग्य-क्षमता को विश्राम के द्वारा पुनः सम्पादित किया जाता है। इसलिये इसकी प्रत्येक अवस्था भोक्ताओं के अनुकूल भोगों के लिये उपयोगी कही जाती है। ऐसी व्यवस्था में इन पदों का 'मधुपूर्ण' विशेषण बहुत उपयुक्त है। ये पद मधु से पूर्ण हैं, तथा वैसे अपने रूप में भी पूर्ण हैं।

परमात्मा के केवल ये 'तीन पद' हैं, अन्य किसी पद की वहां सभावना नहीं की जा सकती। जगत् की इन तीन अवस्थाओं [उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय] में परमात्मा की सर्वशक्तिमत्ता और कर्त्तव्यतत्परता का पूर्ण वर्णन हो जाता है। ऋचा के पूर्ण' पद से यह अर्थ भी स्पष्ट होता है। परमात्मा के उक्त तीन पद पूर्ण हैं, अर्थात् उसके केवल ये तीन पद हैं; न न्यून, न अधिक। यह परमात्मा की शक्ति है, उसीका कार्य है, और यह इतना ही कार्य है—जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय। परमात्मा का इनसे अतिरिक्त और कोई कार्य अवशिष्ट नहीं रह जाता। इसीलिये इस रूप में वर्णित उसके इन पदों को ऋचा में 'पूर्ण' कहा गया है।

ये पद स्वधा के द्वारा प्रसन्न रहते हैं—[स्वधया मदन्ति]। प्रसन्न रहना क्या है? यथासमय अथवा यथाक्रम अपनी स्थिति में वर्त्तमान रहना। ये सब परिणाम जिनके लिये उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय का निर्देश किया जाता है, केवल प्रकृति अथवा स्वधा में होते हैं। वेद में जिन पदों के द्वारा जगत् के उपादान कारण का निर्देश किया गया है, उसमें एक पद 'स्वधा' भी है। इसका विवरण एक अन्य ऋचा द्वारा कर्त्तव्य है। यहां 'त्रिधातु' वर्णन में उसका नाम आ गया है। प्रस्तुत ऋचा में विष्णु अर्थात् परमात्मा के उन पदों की स्थिति एवं प्रसन्नता स्वधा के द्वारा बताई गई है। स्वधा तथा उसके पदों को ऋचा में 'अक्षीयमाणा' कहा है। जगत् का मूल उपादान कार्यरूप में परिणत हो जाने पर भी स्वरूप से क्षीण नहीं होता, उसका सत्त्व-रजस्तमोमयरूप तथा यह उत्पत्ति आदि का क्रम सदा बना रहता है। वह तत्त्व कार्य एवं कारणरूप में सदा त्रिगुणात्मक है। यह परिणामशील है, इसको परमात्मा के शरीररूप में ऋषियों ने वर्णन किया है। इसके परिणतिरूप पदों का शरीरी में आरोप कर उक्त वर्णन है। आरोप का निमित्त है, नियन्ता होना।

इस प्रकार परमात्मा के तीन पदों का प्रस्तुत ऋचा के पूर्वार्द्ध में साधारणतया वर्णन है। उत्तरार्द्ध में उसके एक पद [स्थिति] का विशेषरूप से उल्लेख है। ऋचा बतलाती है—पृथिवी, द्युलोक तथा सम्पूर्ण अनन्तानन्त लोक-लोकान्तरों को अकेला परमात्मा धारण करता है। इन समस्त पृथिव्यादि लोकों को ऋचा में 'त्रिधातु' बताया है। फलतः यह अखिल दृश्यादृश्य व्यक्त जगत् 'त्रिधातु' का परिणाम है, यह स्पष्ट होता है। वेद के ऐसे वर्णनों के आधार पर महर्षि कपिल ने इस विश्वपहेली की मूलतत्त्व सम्बन्धी वास्तविकताओं को अपनी अनुपम प्रतिभा से समझ मूलतत्त्व को सांख्यतन्त्र द्वारा 'सत्त्व-रजस्-तमस्' रूप में वर्णन किया। सांख्य का यह परमसिद्धांत है, कि यह सम्पूर्ण जगत् त्रिगुणात्मक है, इसी को वेद 'त्रिधातु' कहता है। इससे अतिरिक्त है, सर्वथा भिन्न—अत्रिगुण आत्मतत्त्व; जो जीवात्मा-परमात्मा रूप में वर्णन किया जाता है। आत्मतत्त्व कभी परिणत नहीं होता।

वेदातिरिक्त अन्य वैदिक साहित्य में अनेकत्र ऐसे प्रसंग आते हैं, जिनसे यह स्पष्ट होता है, कि सम्पूर्ण व्यक्त जगत् 'त्रिधातु' का परिणाम है। मैत्रायणी संहिता [२।४।३] में वाक्य है—'यद्वा इदं किञ्च तत् त्रैधातव्या' जो कुछ यह है, वह त्रिधातु का विकार या परिणाम है। 'त्रिधातु' पद का अर्थ 'सत्त्व-रजस्-तमस्' समझ कर इन पदों की यथार्थ व्याख्या की जा सकती है। इससे ज्ञात होता है, वेद के 'त्रिधातु' पद का अर्थ, अनन्तर काल के वैदिक साहित्य में, जगत् के त्रिगुणात्मक मूल उपादान को समझा जाता रहा है।

यास्कीय निरुक्त [२४।२-३] में ऋग्वेद [३।२६।७] के मन्त्र की भावरूप व्याख्या की गई है। इस मन्त्र में 'त्रिधातु' पद का प्रयोग है। यास्क के विचार से प्रस्तुत ऋचा के द्वारा अग्निरूप में महत्तत्व का वर्णन किया गया है। यास्क ने इस प्रसंग में 'त्रिधातु' पद का अर्थ सत्त्व-रजस्-तमस् किया है।

इसके अतिरिक्त जाबालोपनिषद् [४] में 'त्रिधातु' पद का अर्थ सत्त्व-रजस्-तमस्' लिखा है। वहां का लेख है—'त्रयो धातवो यदुत सत्त्वं रजस्तम इति' तीन धातु [त्रिधातु] सत्व-रजस्-तमस् हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है, कि सांख्यप्रतिपादित त्रिगुण के लिये 'त्रिधातु' पद का प्रयोग वैदिक साहित्य में बराबर होता रहा है। वेद के 'त्रिधातु' पद प्रयोग के आधार पर जगत् के मूल उपादान की सत्व-रजस्-

तमस् त्रिगुणरूप में सर्वप्रथम उद्भावना परमर्षि कपिल ने की, जिसका उपपादन सांख्यदर्शन में है।

त्रिधातु से जगत् की उत्पत्ति

पूर्वोक्त प्रसंग की पुष्टि के लिये एक ऋचा का और उल्लेख कर देना अनावश्यक न होगा। ऋग्वेद [४।४२।४] का मन्त्र है—

अहमपो अपिन्वमुक्षमाणा धारयं दिवं सदन ऋतस्य।
ऋतेन पुत्रो अदितेर्ऋतावोत त्रिधातु प्रथयद्वि भूम॥

इस ऋचा का देवता 'आत्मा' है। यहां उत्तम और प्रथम पुरुष दोनों रूपों में आत्मा [परमात्म-चेतन] का वर्णन है। पूर्वार्द्ध में उत्तमपुरुष तथा उत्तरार्द्ध में प्रथमपुरुष रूप में वर्णन किया गया है। पदार्थ है—

(अहम्) मैं (उक्षमाणाः) सब जगत् को सींचने वाले (अपः) जलों को (अपिन्वम्) उत्पन्न करता हूँ, अथवा सर्वत्र स्थापित करता हूँ; जलों को यह रूप मेरी शक्ति अथवा प्रेरणा से प्राप्त हुआ है। (ऋतस्य सदने) अपने सामर्थ्य की सीमा में (दिवम्) द्युलोक—इन अनन्तानन्त प्रकाशमान लोक-लोकान्तरों को (धारयम्) धारण किये हुए हूं। अभिप्राय यह, कि इन सब लोकलोकान्तरों की स्थिति मेरे सामर्थ्य से बाहर नहीं है। (ऋतावा-ऋतवान्) शक्तिशाली (अदितेः पुत्रः) अदिति के पुत्र, अर्थात् अदिति के द्वारा प्रकाश में आनेवाले परमात्म-चेतन ने (उत) ही अपने (ऋतेन) सामर्थ्य के द्वारा (त्रिधातु) सत्त्व-रजस्-तमस् रूप मूल उपादान को (भूम) बहुत प्रकार से (वि-प्रथयत्) सर्वत्र विस्तारित किया हुआ है।

प्रस्तुत ऋचा में परमात्मा के सामर्थ्य और उसके कार्य का वर्णन है। आचार्य सायण ने इस प्रसंग में 'त्रिधातु' पद का 'क्षित्यादिलोकत्रयम्' (पृथिवी आदि तीन लोक) अर्थ किया है, और लिखा है, कि परमात्मा ने इनकी रचना की (अकार्षीत् परमेश्वरः)।

दार्शनिक रूप में आचार्य सायण शांकरमत का अनुयायी है। ऐसी स्थिति में किसी पद का ऐसा अर्थ करने से वह भयभीत सा प्रतीत होता है जिससे शांकरमत का विरोध होने की संभावना या आशंका हो। इसी कारण आचार्य सायण ने

'त्रिधातु' पद का सत्त्वादि तीन मूल तत्त्व अर्थ न कर पृथिव्यादि तीन लोक किया प्रतीत होता है ।

पृथिवी आदि तीन लोक में पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक लिये जा सकते हैं । पृथिवी साक्षात हमारे सन्मुख है । पृथिवी के चारों ओर बहुत दूर तक फैला हुआ एक वातावरण (अवकाश) है, उसकी सीमा वहां तक समझनी चाहिये, जहां तक बुध, शुक्र, मंगल आदि ग्रह तथा अन्य नक्षत्र तारागण आदि की सीमा का प्रारम्भ होता है । इस प्रकार पृथिवी और उसके अधिकतम समीपवर्त्ती लोकों के बीच का जो अवकाश है, उसे 'अन्तरिक्ष' समझना चाहिये । उसके अनन्तर जिस अवकाश में सूर्य, शनि, अन्य तारादि अनेक लोक-लोकान्तर हैं, उसका नाम 'द्युलोक' है । सायण ने 'त्रिधातु' पद का अर्थ करते हुए लिखा है, कि परमेश्वर ने तीन प्रकार से जगत् की रचना की उक्त तीन लोकों को वहां 'रचना के तीन प्रकार' बताया है—(-त्रिधातु त्रिप्रकारं......क्षित्यादिलोकत्रयमकार्षीत् परमेश्वरः) ।

वस्तुतः देखा जाय तो उक्तरूप में तीन लोकों की स्थिति जगद्रचना के भेद पर कोई प्रकाश नहीं डालती । विश्व ब्रह्माण्ड की रचना का तो कोई एक ही प्रकार है, सब रचना उसी रूप में होती है । पृथिवी, द्यु आदि भेद तो केवल व्यवहार के लिये किये गये हैं, क्योंकि रचना के विचार से जो तत्त्व पृथिवी पर दृष्टिगोचर होते अथवा किन्हीं उपायों से जाने जाते हैं, अन्तरिक्ष अथवा द्युलोक में भी उन्हीं का अस्तित्व अवगत होता है । ऐसी स्थिति में यद्यपि सायण ने 'त्रिधातु' पद का स्पष्ट 'सत्त्व-रजस्-तमस्' अर्थ नहीं लिखा; परन्तु व्यक्त जगत् की त्रिरूपता का उल्लेख कर यह प्रकट कर दिया है, कि उक्त अर्थ के बिना उसका सामञ्जस्य हो नहीं सकता ।

'स्वधा' पद से प्रकृति का निर्देश

नासदीय सूक्त (१०।१२९) की दूसरी ऋचा में पहले से प्रसंगागत प्रलय का वर्णन करते हुए, उस काल में कौन तत्त्व अवस्थित रहते हैं, इसका स्पष्ट उल्लेख किया है । ऋचा इस प्रकार है—

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न राज्या अह्न आसीत प्रकेतः ।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास ॥

प्रलय काल में न मृत्यु रहती है न जीवन, न रात्रि और दिन का कोई चिन्ह रहता है। उस समय केवल स्वधा के साथ एक अवात=बाधारहित निर्दोष तत्त्व विद्यमान रहता है, जिससे उत्कृष्ट अन्य कोई सत्ता नहीं है। इस मन्त्र में परमात्मा की सर्वोत्कृष्ट सत्ता को बताते हुए, उससे अतिरिक्त 'स्वधा' के अस्तित्व का निर्देश किया है। 'स्वधा' पद साँख्य के प्रकृतिपर्याय 'प्रधान' पद के साथ सन्तुलित होता है। पहले पद में 'स्व' उपपद के आगे धातु का रूप है, जिसका तात्पर्य होता है—अपने अन्दर समस्त व्यक्त विश्व को धारण करने वाली, यही भावना 'प्रधान' पद में है, दोनों पदों में 'धातु' एक है।

मन्त्र में 'स्वधा' पद के साथ तृतीया विभक्ति का प्रयोग इस तथ्य का प्रत्यायक है कि उस महान चेतन के साथ 'स्वधा' अपना पृथक् अस्तित्व रखती है, और उसके साम्मुख्य में नाम 'प्रधान' होते हुए भी अप्रधान अर्थात् निम्नकोटि की है। इस प्रकार एक क्रिया के साथ दो का समान सम्बन्ध होने पर अप्रधान (पदार्थ) में तृतीया विभक्ति का वैदिक लौकिक व्यवहार के अनुसार आचार्य पाणिनि ने निर्देश किया है (पाणि० २।३।१९)। इससे उन पदार्थों का 'दो होना' निश्चित होता है। यह भी सिद्ध होता है, कि उन दो पदार्थों में से एक मुख्य अथवा उत्कृष्ट है, और दूसरा—जिसके साथ तृतीया विभक्ति का प्रयोग किया गया है—अमुख्य अथवा अपकृष्ट है। इन दोनों तत्त्वों में चेतन उत्कृष्ट तथा स्वधा-अचेतन प्रकृति अपकृष्ट है। कारण, कि चेतन, अचेतन प्रकृति पर नियन्त्रण करता है। सांख्य में मूल उपादान को जिस आशय से 'प्रधान' नाम दिया गया है, वही आशय वेद के 'स्वधा' पद में निहित है। इन पदों का निर्वचन एक ही धातु के आधार पर होता है।

वेदों के पुरुषसूक्त

इनके अतिरिक्त वेदों में अनेक प्रसंग ऐसे हैं, जिनमें सृष्टिविद्याविषयक वर्णन उपलब्ध होते हैं। इनमें वेदों के 'पुरुषसूक्त' (ऋ० १०।९०।। यजु० ३१।। अथर्व० १९।६) तथा 'अस्यवामीय' सूक्त (ऋ० १।१६४।। अथर्व० ९।९) अत्यन्त विचारणीय हैं। पुरुषसूक्तों के वर्णन के अनुसार जगत्सर्ग एक देवयजन' है देव के द्वारा प्रारम्भ किया गया एक महायज्ञ। यह 'देव' सब जगत् का नियन्ता, स्रष्टा कर्त्ता, धर्त्ता, संहर्त्ता है। वह चेतन तत्त्व अनन्त दिव्य शक्ति सम्पन्न है। उसकी समस्त शक्तियां देवरूप में इस महायजन का सञ्चालन व विस्तार करती हैं। जीव-पुरुष इस यज्ञ में हविरूप

हैं, समस्त ऋतु आदि इसके साधन हैं। पहले ही विद्यमान जीव-पुरुष को संस्कृत कर यहां प्रस्तुत किया जाता है। इस यज्ञ की प्रारम्भिक सम्पन्नता होने पर समस्त प्राकृत जगत् भूत, भौतिक तथा प्राणी-जगत् का प्रादुर्भाव हो जाता है। तभी चारों वेद प्रकट होते हैं, समाज व्यवस्था बनती हैं, संसार के सब कार्य चालू हो जा हैं। देवों द्वारा सञ्चालित विस्तारित इस यज्ञ में जीव पुरुषरूपी पशु को बांध दिया गया है। यह सत्य सनातन यज्ञ अनादिकाल से अनवरत प्रसृत है, यह एक श्रेष्ठ नियत व्यवस्था है, जिसक दृढ़ तटों से घिरा जगत्-नद का अजस्र धाराप्रवाह निर्बाध बहा करता है।

वेद के इन वर्णनों में अत्यन्त रुचिकर एवं आकर्षक रीति पर जगत्सर्ग का विवरण प्रस्तुत किया गया है। अपने में यह एक ऐसा अतिरिक्त विषय है, जिसके समझने एवं विवेचन करने की सदा अपेक्षा है। अथर्ववेद के पदों में—पश्यन्ति सर्वे चक्षुषा न सर्वे मनसा विदुः [१०।८।१४], बाह्य इन्द्रियों से इसे सब देखते अवश्य हैं, पर आन्तर भावना से वस्तुस्थिति में इसे सब जान नहीं पाते। सृष्टिविद्याविषयक वैदिक वर्णन वस्तुतः अगाध समुद्र के समान हैं, इनमें गहरा गोता लगाने पर सच्चे रत्नों का लाभ हो सकता है।

वेद के अस्यवामीय सूक्त

वेद के 'अस्यवामीय' सूक्त भी इस विषय में गम्भीरतापूर्वक विचारणीय हैं। ये जगत्सर्गविषयक पुष्कल सामग्री प्रस्तुत करते हैं। इस सूक्त की प्रथम ऋचा[१] में तीन अनादि तत्त्वों का वर्णन है। वह परमात्मा सर्वातिशायी अनादि तत्त्व है, जो सबका सेवनीय है, एवं समस्त जगत् का स्रष्टा है। उसका साथी एक और समान वर्ग है, जो इस जगत् का भोक्ता है, वह मध्यम है, कारण यह है, कि उसकी स्थिति परमात्मा और प्रकृति दोनों के मध्यगत है। यह जीवात्म वर्ग है। जगत्सर्ग में परमात्मा सर्वातिशायी निमित्त है, जीवात्म-वर्ग अपने कर्मों द्वारा सर्ग में निमित्त रहता है। परमात्मा केवल निमित्त है, पर जीवात्म-वर्ग जगत् का भोक्ता भी है। इसी कारण परमात्मा का साथी यह 'मध्यम' है। अनादि चेतन तथा कर्मों द्वारा विशिष्ट जगद्रचना में निमित्त होने से यह परमात्मा का भ्राता अर्थात् साथी है। इसकी यह मध्यगत स्थिति दैव-आसुर सर्ग की प्रयोजक है। कर्त्ता भोक्ता के रूप में

१ अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्॥

अभ्यागत यह आत्मा जब अपनी प्रवृत्तियों को परमात्मा की ओर झुका लेता है, तब इसमें दिव्य भावनाओं का उद्रेक रहता है; ऐसा समाज देवों का समाज अथवा दैवी-सर्ग कहा जाता है। पर भोगलिप्सा से जब इसका झुकाव प्रकृति एव विषयों की ओर हो जाता है, तब आत्मा की इन प्रवृत्तियों को आसुरी बताया गया है। ऐसा केवल प्रकृति का उपासक समाज तत्त्वदर्शियों ने आसुर-सर्ग कहा है। यह वास्तविकता जीवात्मवर्ग की मध्यमस्थिति का प्रयोजक है।

उस परमात्मा का तीसरा साथी 'घृतपृष्ठ' है। यह पद तीसरे अनादि तत्त्व का बोधक है। वह तत्त्व-जगत् का मूल उपादान जड़ प्रकृति है। 'पृष्ठ' पद 'स्पृश्' धातु से बना है (निरु० ३।४), उसका अर्थ होता है—स्पर्श करना, छूना अथवा भोग करना। आत्मा स्थूल शरीरादि के द्वारा ही प्रकृति के संपर्क में आ, प्रकृति का भोग करता है। इस प्रकार 'घृतपृष्ठ' पद आत्मा की भोग्यभूत प्रकृति का वाचक है। ऋचा में परमात्मा के द्वितीय भ्राता जीवात्मवर्ग को भोक्ता (अश्नः) बताया है, उसके भोग्य तत्त्व को स्पष्ट करने के लिये यह पद है, जो अपने विवरण से इस यथार्थता का प्रतिपादन करता है।

ऋचा के चतुर्थ चरण में तीसरे साथी के स्वरूप का वर्णन है। तत्त्वदर्शी व्यक्ति उसके स्वरूप को देखता है। वह 'विश्पति' है, 'सप्तपुत्र' है। 'विश्' है समस्त प्राणिजगत्। उसका रक्षण पोषण इस तीसरे साथी के द्वारा होता है। आत्मा भोक्ता का भोक्तृत्व वस्तुतः भोग्य पर अवलम्बित है। इसी रूप से भोग्य तत्त्व संसारस्थिति में भोक्ता का पालक पोषक है। फलतः यह तृतीय भ्राता घृतपृष्ठ 'विश्पति' है। यह 'सप्तपुत्र' है, सातों लोक इसी के पुत्र हैं, सातों लोकों में विश्वब्रह्माण्ड का समावेश है। यह सब प्रकृति का विकार है। ब्रह्माण्ड की पिण्ड में कल्पना करने पर सात पुत्र सांख्य में प्रतिपादित सात 'प्रकृति-विकृति' कल्पना किये जा सकते हैं। जगत् की सर्गप्रक्रियागत वस्तुस्थिति का यह सांख्यीय वर्णन वेदानुसारी है। वेद में अन्यत्र अदिति [प्रकृति] के सात पुत्रों का संकेत उपलब्ध होता है। इसके लिये अदिति-सूक्त (ऋ० १०।७२) का पर्यालोचन करना अपेक्षित है। विस्तारभय से हम यहां उसका उल्लेख नहीं कर रहे।

'वृक्ष' पद से प्रकृति-निर्देश

'अस्यवामीय' सूक्त की प्रसिद्ध 'द्वा सुपर्णा' इत्यादि बीसवीं ऋचा में स्पष्ट

रूप से तीन अनादि तत्त्वों का वर्णन है। वहां चेतन आत्म-तत्त्व को भोक्ता और अभोक्ता दो रूपों में वर्णन किया है। परमात्मा अभोक्ता को वहां 'अनश्नन्' कहा है। इसी आधार पर प्रथम ऋचा में 'अश्नः' पद की व्याख्या भोक्ता-जीवात्मा की गई है। जगत् के मूल उपादान प्रकृति का वर्णन इस ऋचा में 'वृक्ष' पद द्वारा किया गया है। फलतः चेतन और जड़ (अचेतन) रूप में दो प्रकार के स्वतन्त्र अनादि तत्त्व हैं। चेतन तत्त्व में एकमात्र परमात्मा अभोक्ता और जीवात्मवर्ग भोक्ता के रूप में वर्णित है। इनकी स्थिति अपने रूप में सर्वथा पृथक् है। इनसे अतिरिक्त है—जड़ तत्त्व, जगत् का मूल उपादान तथा जीवात्मवर्ग का भोग्य।

निगमन

इस वैदिक वर्णन के अनुसार सांख्य में 'पुरुष' पद से परमात्मा और जीवात्मा के पृथक् अस्तित्व को स्वीकार कर जगत् का मूल उपादान त्रिगुणात्मक प्रकृति को माना गया है, इस प्रकार चेतन और अचेतन अथवा पुरुष और प्रकृति, इन दो तत्त्वों को मूलतः स्वतन्त्ररूप में स्वीकार किया गया है। इस लघुकाय लेख में हमने अति संक्षेप से यह प्रदर्शित करने का यत्न किया है, कि सांख्य के उन सिद्धांतों के आधार, वेद के वे वर्णन कहे जा सकते हैं, जहां जगत् के मूल उपादान तथा उसके चेतन नियन्ता परमात्मा एवं भोक्ता जीवात्मा के उल्लेख हैं।

वेद की भावना, चेतन और अचेतन को मूल में एक मानने की नहीं है। कतिपय विद्वानों का ऐसा विचार पाया जाता है, कि सांख्यदर्शन एक अवैदिक दर्शन है, जिन सिद्धांतों का उसमें प्रतिपादन किया है, उनका आधार वेद में उपलब्ध नहीं होता। इसी दृष्टि से, सांख्य के उन मूल सिद्धांतों के आधार, स्थालीपुलाक न्यायानुसार अतिसंक्षेप में हमने इस लेख द्वारा वेद से दिखाने का यत्न किया है, जिन सिद्धान्तों पर इस दर्शन की आधारशिला रक्खी गई है, मननशील विद्वज्जन इस पर विचार करें।

अथर्ववेद में मातृभूमि-प्रेम

★

रामप्रसाद मिश्र

अथर्ववेद में मातृभूमि की महिमा का मर्मस्पर्शीगान हुआ है। यद्यपि ऋग्वेद मातृभूमि-महिमा से भी परिचित है, तथापि अथर्ववेद इस दिशा में अग्रतम है। द्वादश काण्ड के प्रथम सूक्त में ६३ मन्त्र हैं, जिनके ऋषि महान् वेद-द्रष्टा अथर्वा हैं। अथर्वा जीवन-व्यापी बोध के अद्वितीय प्रतीक-ऋषि हैं। अथर्वा भारत के महानतम ऋषियों में एक हैं। अथर्ववेद उनका स्थायी एवं उत्कृष्ट स्मारक है। अथर्ववेद में अथर्वा-प्रणीत सूक्त गुण एवं परिमाण दोनों दृष्टियों से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है; उनकी संख्या भी सर्वाधिक है। उक्त सूत्र की देवता भूमि है। इस भूमि-सूक्त में मातृभूमि की जो स्तुति की गई है, वह विश्व-वाङ्मय में अनुपम है।

'मातृभूमि' विश्व में सर्वाधिक प्रिय शब्द है, क्योंकि इसमें 'माता' और 'सर्वमाता' दोनों का एक-साथ बोध होता है। भगवान् राम से सम्बद्ध श्लोक इस विषय में अत्यधिक प्रख्यात है,

इयं स्वर्णमयी लङ्का न मे लक्ष्मण रोचते।
जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी॥

प्राचीनतम काल से मानव मातृभूमि के प्रति अगाध श्रद्धा रखता आया है। अथर्ववेद तथा होमर-काव्य से लेकर अत्याधुनिक प्राच्य-पाश्चात्य-काव्य तक इस तथ्य को अनन्त विस्तार में देखा जा सकता है।

अथर्ववेद के "माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः" (१२।१।१२) शब्दों में मातृ-भूमि के साथ निकटतम एवं जीवन्ततम सम्बन्ध को स्पष्टतम अभिव्यक्ति प्रदान की गई

है। इस विस्तृत भूमि-स्तवन में भारतीय राष्ट्र की व्यापकता का पूरा सम्मान किया गया है। एकादश मन्त्र में भारत-पिता हिमालय का उल्लेख है,

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु ।......

हे मातृभूमि ! तेरे गिरि, हिमाच्छादित गिरि, एवं वन तुझे आनन्ददायी हों, उन गिरिओं में शत्रु न रहें, वे शत्रु-रहित हों ! ......

हिमवन्त अथवा हिमालय पर्वत शत्रु-रहित हो, यह पावन प्रार्थना आज, मन्त्र-रचना के सहस्रों-वत्सर-पश्चात्, कहीं-अधिक चिन्तन-योग्य है ! वेद शाश्वत ग्रन्थ है !

हिमवान् का पावन वेदोल्लेख पर्वतराज के चिरन्तन भारत-सम्बन्ध का प्रतीक है। गिरिराज हिमालय का सम्बन्ध अनेक देशों से है, किन्तु उनका नामकरण भारत ने ही किया है। भारत-हिमालय-सम्बन्ध घनिष्ठतम है, प्राचीनतम है। वेद में हिमवान् विद्यमान हैं, पुराण में हिमवान विद्यमान हैं, आदिकवि बाल्मीकि के राम 'धैर्येण हिमवानिव' हैं, व्यास के अर्जुन हिमवान् में तप करते हैं, कवि-कुल-गुरु कालिदास का प्रसिद्ध महाकाव्य 'कुमारसम्भवम्' देवात्मा हिमालय से आरम्भ होता है (अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः), भारवि कृत किरातार्जुनीयम् में हिमवान् का विशद वर्णन स्वाभाविक है क्योंकि कथानक का विस्तृत भाग हिमवान्-सम्बद्ध है। हिन्दी-कविता में तुलसीदास, श्रीधर पाठक, मैथिलीशरण, प्रसाद, पन्त, दिनकर आदि ने हिमालय पर पर्याप्त लिखा है। रवीन्द्र, इक़बाल, भारती आदि प्रख्यात कवियों ने हिमालय का गौरवपूर्ण उल्लेख किया है। विश्व के किसी पर्वत को, साहित्य में, हिमालय-जैसा गौरव नहीं प्राप्त हुआ। विश्व का कोई पर्वत हिमालय-जैसा गौरवशाली है भी नहीं। 'भारतीय वाङ्मय में हिमालय' एक प्रेरक ग्रन्थ बन गया है।

भूतत्ववेत्ताओं के अनुसार उत्तरभारतीय भूभाग कभी समुद्र था। अथर्ववेद इस वैज्ञानिक सत्य का स्पष्ट उल्लेख करता है

यार्णवेऽधि सलिलमग्र आसीत् ।......(१२।१।८)

या (जो भूमि) अग्रे (पहले) अर्णवे)समुद्र में) सलिलं अधि (जल के भीतर) आसीत् (थी)......

चौबीसवें मन्त्र में पुष्कर (कमल) एवं उसके पावन सौरभ का वर्णन है। वेद-वर्णित, पुराण-प्रशंसित, समग्र-काव्य-प्रिय कमल ब्रह्मा, सरस्वती एवं लक्ष्मी से निकट सम्बद्ध रखता है। निर्लिप्तता एवं स्वच्छता का दार्शनिक-प्रतीक कमल भारत का राष्ट्रीय पुष्प है। 'भारतीय साहित्य में कमल' एक महान् निबन्ध का विषय है। यों, कमल होमर को भी प्रिय था। उस महाकवि के देवता कमल खाने वालों के देश की यात्राएँ किया करते थे!

हमारा मातृभूमि-प्रेम एव मातृभूमि-स्तवन रूढ़िगत नहीं है, सकारण है और जब तक हममें ज्ञान है, शौर्य है, तब तक मातृभूमि की रक्षा वरेण्य है,

शिला भूमिरश्मा पांसुः सा भूमिः संधृता धृता।
तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः॥
(१२।१।२६)

जो शिला, अश्मा (गिरि-प्रस्तर) एवं रजयुक्त मेदिनी है, वह हम लोगों से विद्या, अनेक विज्ञान एवं धृति से भली भाँति रक्षित हुई है, अच्छी तरह योग्यता के साथ धारण की हुई है, सोने की खानों वाली उस मेदिनी को हम नमस्कार करते हैं!

सम्पन्न भूमि की सम्यक् रक्षा ज्ञान विज्ञान एवं शौर्य-धैर्य के द्वारा ही सम्भव है, इस द्विविध एवं पूर्ण तथ्य का विश्लेषक प्रस्तुत मन्त्र अत्यन्त मननीय है।

सोने की खानें दक्षिण (मैसूर) में हैं। यह मन्त्र अथर्ववेद के समय तक हिमवान् से दक्षिण तक के राष्ट्र-प्रसार का इंगित करता है। ऋग्वेद से अथर्ववेद तक सागर का अनेक बार किया गया उल्लेख, वाल्मीकि की, "समुद्रइव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवानिव" की शब्दावली में राम का आसेतु-हिमाचल-राष्ट्रपुरुषत्त्व, कालिदास के रघुवंश में रघु-दिग्विजय का सुस्पष्ट भौगोलिक विस्तार, आदि महान्-भारतीय-राष्ट्र के आकार-प्रकार को स्पष्ट करते हैं। भारत का आकार-प्रकार यह है,

उत्तरं यत् समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम् ।
वर्षं तत् भारतं नाम भारती यत्र सन्ततिः ॥

ऐतरेय ब्राह्मण स्पष्ट शब्दों में "समुद्रपर्यन्तायाः पृथिव्याः एकराट्" का विराटवादी मान गाता है । हमारे विराट् राष्ट्र का परिचय वैदिक वाङ्मय सर्वाधिक स्पष्ट रूप में कराता है ।

मातृभूमि अतीत में गौरवान्वित रही है, किन्तु यह पर्याप्त नहीं, वह वर्त्तमान एवं भविष्य में भी गौरवान्वित रहे,

अदो यद्देवि प्रथमाना पुरस्ताद्देवैरुक्ता व्यसर्पो महित्वम् ।
आ त्वा सुभूतमविशत्तदानीमकल्पयथाः प्रदिशश्चतस्रः ॥
(१२।१।५५)

हे दिव्य मातृभूमे ! तू जब पहले देवताओं एवं वीरों द्वारा प्रख्यात होकर प्रशंसित हुई, तब विशेष उत्कर्ष को पहुँची, तब तुझे चारों दिशाओं में अत्यधिक प्रतिष्ठा प्राप्त हुई, हे भूमि, तेरी वह प्रतिष्ठा तुझमें पूर्ववत् रहे !

हे मातृभूमे ! तेरे ग्राम, वन, सभा, परिषद्, संग्राम-समिति, आदि सब तेरे विषय में शुभ कहें,

ये ग्रामा यदरण्यं याः सभाः अधि भूम्याम् ।
ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते ॥
(१२।१।५६)

उपर्युक्त उभय-मन्त्र, शाश्वत महत्त्व एवं चिरन्तन उपयोगिता के प्रतीक अन्य मन्त्रों के सदृश ही, आज भी माननीय हैं । आज विश्व में भारत की क्या प्रतिष्ठा है ? आज उसे, अपने प्राचीन गौरव के अनुरूप, प्रतिष्ठा अर्जित करनी है । विश्व में महानतम साहित्य की रचना-स्थली, विज्ञानों की रानी अंकगणित की जन्मभूमि, रसायनशास्त्र की अद्यावधि-जीवन्त-विभूतियों की जननी, विश्व की अनुपम धर्मस्थली भारत-भूमि को पूर्व-गौरव प्राप्त करने की प्रेरणा देने वाला मन्त्र आज कहीं अधिक सार्थक है । आज जब विभाजित-राष्ट्र के भी विघटन की उन्मुक्त चर्चाएं हो रही हैं,

आज जब विघटनकारियो के कारण विधि का विशेष निर्माण आवश्यक हो गया है, तब "**तेषु चारु वदेम ते**" (सब तेरे विषय में शुभ-कथन करें) कहीं-अधिक माननीय है। अन्तिम मन्त्र को राष्ट्र एवं संसद्-भवन में यत्र-तत्र-सर्वत्र अर्थ-सहित-रूप में प्रस्तुत किया जाना चाहिए, जिससे, शताब्दियों की परतन्त्रता के कारण, स्वार्थ को राष्ट्र पर वरीयता प्रदान करनेवाले व्यक्ति कुछ सोचने की प्रेरणा प्राप्त कर सकें। अनेक राज्यों का यह राष्ट्र एक था, अनेक राज्यों का यह राष्ट्र एक रह सकता है। जब-जब एक महान् केन्द्र बन सका, भारत महान् बना ; अब एक महान् केन्द्र बन सके, भारत महान् बने !

सूक्त के अन्त में पावनतम-प्रार्थना की गई है,

भूमे मातर्नि धेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम् ।
संविदाना दिवा कवे श्रियां मा धेहि भूत्याम् ॥

(१२।१।६३)

हे मातृभूमे ! कल्याण-वर्द्धिनी बुद्धि से हमें सुप्रतिष्ठित कर, प्रतिदिन सब-कुछ जानने वाली हे क्रान्तदर्शिनी, हे कवि भूमे ! हमें पृथिवी में श्री प्राप्त हो !!

मातृभूमि को कवि कहना अत्यन्त मार्मिक है। भारतभूमि कवि है,...... वह पराशर, शुनःशेप, वेन, अथर्वा, बाल्मीकि, व्यास, कालिदास, तुलसीदास, कम्बन, एड्दुत्तच्छन् एवं रवीन्द्रनाथ आदि-आदि विश्व के महान् कवियों की प्रेरक-माता है। भारत-माता से बढ़ कर कोई कविता नहीं हो सकती। भारत-माता ने जितने महान् कवि उत्पन्न किए हैं, उससे आधे भी किसी एक देश-माता ने नहीं उत्पन्न किये। कवे, मातृभूमे ! तुझे प्रणाम है !!



वैदिक वाङ्मय में काम

★

अश्विनी कुमार वर्मा

काम सृष्टि की आद्य एवं असंदिग्ध चेतना है ।१ प्रजापति की सृष्टि कल्पना के साथ ही इसका प्रादुर्भाव हो जाता है । 'सः अकामयत स तपोऽतप्यत' जैसे वाक्यों में वैदिक ऋषि ने सृष्टि की कल्पना के साथ ही 'काम' शब्द को इतना अधिक संश्लिष्ट देखा कि वह उपमा के रूप में 'काम' को कहीं भी भुला नहीं पाया ।२ उसके लिए काम-वर्णन उतना ही स्वाभाविक रहा जितना कि सृष्टि के अन्य रहस्यों का उद्घाटन । विश्व की अन्य भाषाओं के साहित्यों में काम संबंधी वर्णन सामाजिक समस्या के रूप में; मानव के अपने शरीर की अंतःक्रियाओं के सम्यक् अध्ययन के रूप में; और यदि कहा जाए तो मानसिक हीन ग्रंथियों के निवारणार्थ एतद् सम्बन्धी साहित्य के रूप में हमारे समक्ष आया । और यह साहित्य बस कल की देन है । परन्तु वैदिक ऋषि ने 'काम' को किसी समस्या या हीन-ग्रंथि निवारणोपाय के रूप में न लेकर उसे सृष्टि के मूल में देखने का सफल प्रयास किया है । उसकी काव्यात्मक चेतना को उसमें 'कलुष' ऐसा कुछ भी नहीं दीखा । यदि आज पश्चिमी प्राच्यविद्याविदों को काम का याथातथ्य वर्णन अनैतिक दीखता है और इस आधार पर वे वैदिक ऋषि पर कोई आरोपण करते हैं तो भारत का उनको उत्तर यही है कि

---

१ कामस्तदग्रे समवर्तत मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
अथर्व० का० १९ सू० ५० मं० १, ऋग्वेद १०.१२९.४

२ योषा हि वाक् । श० १।४।४।४।।
योषा वै वेदिः । श० १।३।३।८।।
योषा हि स्रुक् । श० १।४।४।४।।
योषा वै पत्नी । श० १।३।१।१८।। आदि ।

अपने सामाजिक प्रभावों से मुक्त हुए बिना वे चिंतन के कठोर धरातल पर उतर नहीं पाए हैं। इस देश के साहित्य और संस्कृति का व्याख्यान तो बहुत दूर की बात है वह अपने जनमानस के संस्कार के लिए भी कहीं पूर्वाग्रहों से बद्ध होने के कारण चिंतन के मधुसिक्त कणों का चयन नहीं कर पाए हैं।

सृष्टि और काम

(प्रजापति के) मन का जो प्रथम 'रेतस्' था वह काम ही सर्व प्रथम सम्यक् रूप से (सृष्टि में) व्याप्त हुआ।[३] अथर्ववेद १९।५२।१ और ऋग्वेद १०।१२९।४ में यह अर्द्धाली समान है। परन्तु ऋग्वेद में इसके पूर्व और उत्तर के मंत्र जहां प्रसिद्ध नासदीय सूक्त (देवता-भाववृत्तम्) के हैं वहां अथर्ववेद में प्रकरण काम का ही है। एक स्थान पर पूर्णतया दार्शनिक संदर्भ है तो दूसरे में स्पष्ट काम प्रकरण का प्रारम्भ ही यहां से होता है। दोनों प्रकरणों का अपना २ महत्त्व है।

जिस समय सृष्टि का न असत् (पूर्णतया अव्यक्त) स्वरूप था और न सत् (व्यक्त) स्वरूप था ; पृथिवी एवं अंतरिक्षादि लोक जब नहीं बने थे; मृत्यु अमृत्यु के द्वन्द्व नहीं बन पाये थे; न ही कहीं रात्रिन्दिन काल भेद को बता रहे थे; सब कुछ अव्यक्त था; चारों ओर आपः परमाणुओं से सृष्टि व्याप्त थी उस समय उस महान् (प्रजापति) ने जो तप तपा उसके परिणाम स्वरूप सर्वप्रथम 'काम' का प्रादुर्भाव हुआ और यह 'काम' सत् (व्यक्त) के बन्धुभाव के रूप में तथा असत् (अव्यक्त) के हृदय में एकसा व्याप्त हुआ। ऐसा कवियों की मनीषा व्यक्त करती है।[४] उसे ही 'रेतोधा' 'महिमान' 'स्वधा' नाम से पुकारा गया। सृष्टि की उत्तरोत्तर भावनाओं के मूल में यह 'काम' कार्य कर रहा है। इसे ही स्थान स्थान पर ब्राह्मणग्रंथों में 'प्रजापतिः अकामयत' पद से अभिहित किया गया है। प्रजापति की सुन्दरतम कृति 'मानव' है जिसे 'प्राजापत्य प्रजा' कहा गया। इस प्राजापत्य प्रजा की सारी चेतना और गति के मूल में 'काम' तत्त्व कार्य कर रहा है। मनोरथ, इच्छा, आशा,

---

३ वही पूर्व पृष्ठ एक पर उद्धृत।

४ '......सतो बन्धुमसति निरविन्दन्हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥'

ऋग्वेद १०।१२९।४

अभिलाषा आदि विभिन्न रूपों में मानवी चेतना को गति प्रदान करने वाला यह काम तत्त्व ही है।

इसी काम को ऋग्वेद के व्यापक प्रसङ्ग से थोड़ा हटकर अथर्ववेद ने मानवी प्रसङ्ग में देखते हुए कहा कि " 'काम' काम से बढ़ता हुआ जब 'सयोनी'५ हो जाता है तब वह 'रायस्पोष' (सुख का बढ़ाने वाला) हो उठता है। वह 'काम' अत्यधिक बलवान है, विभु (व्यापक) है, सखा के प्रति सख्य भाव का उत्पन्न करने वाला है, वही उत्साह के रूप में सैनिकों में अत्यधिक उग्र हो उठता है और ओज के साथ आ मिलने पर तो उसका कुछ कहना ही नहीं। इस काम के साथ ही अनंत आशाएं उत्पन्न हो स्वर्ग का निर्माण कर लेती हैं। वह काम आशा के रूप में, अभिलाषा के रूप में एक हृदय से दूसरे हृदय में 'जीवन तत्त्व' के रूप में व्याप्त हो जाता है।"६

इस दार्शनिक पृष्ठभूमि में, (जो स्वयं संहिताओं द्वारा उपस्थित की गयी है) वैदिक ऋषि ने स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों को देखने का प्रयास किया है। उसने 'काम' को जीवन के प्रेरक तत्त्व से लेकर शारीरिक सम्बन्धों तक सभी में जब व्याप्त देखा तब उसे कलुष या अनैतिक ऐसा कुछ भी नहीं दीखा। परन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं है कि काम के क्षयी रूप७ का या उसकी उच्छृंखलता का उसे ध्यान न हो। इसी कारण जब 'काम' का उसने स्वाभाविक वर्णन किया तब तब उसे 'दाम्पत्य' सम्बन्धों में ही समझने का प्रयास किया। कहीं भी साधारण स्त्री-पुरुष के संसर्ग के रूप में उसने उसे प्रतिष्ठित नहीं होने दिया। लगता ऐसा है कि दुर्योजनावश पश्चिमी प्राच्यविद्याविदों ने अपने समाज की कामजीवन सम्बन्धी उच्छृंखलताओं को उचित सिद्ध करने के लिए वैदिक मनीषी पर अनैतिकता का आरोप लगाया है; या

---

५ 'सयोनी' का अर्थ स्त्री पुरुष का यौन सम्बन्ध है।

६ स काम कामेन बृहता सयोनी रायस्पोषं यजमानाय धेहि ॥१॥
त्वं काम सहसासि प्रतिष्ठितो विभुर्विभावा सख आ सखीयते
त्वमुग्रः पृतनासु सासहि सह ओजो यजमानाय धेहि ॥२॥
.........॥ आस्या अशृण्वन्नाशाः कामेनाजनयन्त्स्वः ॥३॥
कामेन या काम आगन्हृदयाद्धृदयं परि ।.........॥४॥

अथर्व० १०।५०।१—४॥

७ ......मानुषाय क्षयाय ॥१।१२३।१॥ ऋग्वेद

फिर गत दो ढाई हजार वर्षों में हमारे मनीषियों में काम के प्रति जो हीन दृष्टिकोण उत्पन्न हुआ है उसका उसने लाभ उठाया। संपूर्ण जीवन को मात्र अध्यात्म का पर्याय बना डालने का भी संभवतः यह दुष्परिणाम निकला है।

जीवन में काम की अनिवार्यता

जहाँ एक ओर काम तत्त्व सृष्टि में व्यापक है वहाँ पुरुष की शारीरिक रचना ऐसी है कि उसके पुष्प (रेतस्) के पकते ही वृन्त-त्याग की अनिवार्यता स्वयं सिद्ध प्रतीत होती है। और पृथिवी के समान क्योंकि नारी भी उपोदका है अतः उसकी गृहीता भी वही हो सकती है 'काम ही दाता और काम ही आदाता है' में यही भाव निहित है८ इसी बात को शतपथ के अंतिमाध्याय बृहदारण्यक के अंत में काम विद्या के प्रख्यात आचार्य उद्दालक ने नाक मौद्गल्य को कथा रूप में समझाते हुए बताया :—

"पञ्च भूतों का रस पृथिवी है। पृथिवी का रस आपः (जल) हैं, आपः का रस औषधियां, ओषधियों के रस रूप में पुष्प और पुष्पों से फल बने। इन्हीं फलों का रस पुरुष का 'रेतस्' है। उस पुरुष ने प्रजापति से कहा कि "इस (आग्नेय) रस की मैं प्रतिष्ठा कहाँ करुँ।" प्रजापति ने स्त्रियों की सृष्टि की और फिर पुरुष के अधोभाग की ओर उनका उपासन किया। इसी लिए स्त्रियाँ पुरुष के अधोभाग का उपासन करती हैं।९........."

आचार्यों ने जीवन की इसी अनिवार्यता को समझते हुए पति-पत्नी के सह सम्बन्ध और प्रगाढ़ सख्य भाव पर बल दिया।१० समाज 'काम' की अनिवार्यता के कारण कहीं उच्छृंखल न हो जाए इसलिए ही 'पितृ ऋण' पर अधिक बल दिया गया। यहाँ तक कि 'काम प्रकरण' को ही 'पुत्र-मन्थाख्य कर्म' से अभिहित किया गया।

काम का दाम्पत्य रूप

शारीरिक सम्बन्ध की इस अनिवार्यता को स्वीकार करते हुए स्त्री पुरुष

---

८ कामो हि दातः कामः प्रतिगृहीता। तैं० २।२।५।३॥

९ शतपथ १४।९।१—२.

१० सखा सप्तपदी भव सख्यं ते गमेयम्।
सख्यं ते मा योषा सख्यं ते मायोष्ठ्याः॥ गो० गृ० २.२.१६
खा० गृ० १.३.३१ तै० बा० ३.७.७.१२

के 'दम्पति' रूप में मधुर सम्बन्धों को बनाए रखने के लिए जिस चिंतन-भूमि को वैदिक ऋषि ने प्रस्तुत किया है वह भारत के काम-चिंतन को अन्य संस्कृतियों के काम-चिंतन से पृथक् कर देती है । उस काम चिंतन के अन्तर्गत ही गृह और समाज की पृष्ठभूमियाँ झांकती हुई दीखती है । वहीं स्त्री पुरुष के अपने २ व्यक्तित्व की समाज में प्रतिस्थापना हो जाती है । स्त्री-पुरुष के मध्य जिस सख्य भाव की बात पश्चिम में 'फ्रेञ्च क्रान्ति (French Revolution)' के बाद आयी वह सख्य भाव हमें इन्हीं प्रकरणों में व्याख्यात दीखता है ।

जीवन में स्त्री का स्थान

वेद के व्याख्यान ग्रंथ 'ब्राह्मण ग्रंथों' में स्थान २ पर स्त्री को पुरुष की प्रतिष्ठा कहा है ।११ और स्त्री की प्रतिष्ठा उसके गृहा१२ होने में है । वह पुरुष का इतना विश्वस्त अर्द्धभाग१३ बतायी गयी जिस के अभाव में यज्ञ (जीवन) १४ का पुरुष अधिकारी ही नहीं रहता । पुरुष जीवन की संपूर्ण श्री१५ ही उसकी पत्नी है । उसके अभाव में वह अपने को इतना एकाकी अनुभव करता है जैसे मानो उसके प्राण अयाजी रह गए हों । इसी लिए तो वैदिक ऋषि एक स्थान पर भावातिरेक में इन्द्र से प्रार्थना करता है कि हे अङ्कुश स्वरूप, वसुदाता, बृहत्, हिरण्यय इन्द्र मुझे इन सब गुणों वाली जाया को प्रदान करो ।१६

---

११ का वै पुरुषस्य प्रतिष्ठा । स्त्री वै पुरुषस्य प्रतिष्ठा ।

१२ गृहा वै पत्न्यै प्रतिष्ठा श० ३।३।१।१७।।
गार्हपत्यभाजो वै पत्न्यः । कौ० ३।६।।

१३ अथो अर्द्धो वा एष आत्मनः यत्पत्नी । तै० ३।३।३।५।।
जघनार्द्धो वाऽ एष यज्ञस्य यत्पत्नी । श० १।३।१।१२।।२१।५।२।२६।।
३।८।२।२।।

पूर्वार्द्धो वै यज्ञस्याध्वर्युर्जघनार्धः पत्नी । श० १।६।२।३।।

१४ अयज्ञो वा एषः । योऽपत्नीकः । तै० २।२।२।६।।

१५ श्रिया वा एतद्रूपं । यत्पत्न्यः । तै० ३।६।४।७—८।। श० १३।२।६।७।।

१६ यस्तेऽङ्कुशो वसुदानो बृहन्निन्द्र हिरण्ययः । तेना जनीयते जायां मह्यं धेहि शचीपते ।। अथर्व० ६।८२।३।।

गोपथ ब्राह्मण में पत्नी के इस रूप से आगे बढ़ कर उसे धाय्या१७ (माँ) कहा गया। उसी स्वरूप का ध्यान रखते हुए कौषीतकीकार ने कहा कि जिस प्रकार माँ अन्त में खाती है उसी प्रकार पत्नियाँ अंत में खाती हैं।१८ सह सम्बन्ध के स्नेहातिरेक का इससे सुन्दर वर्णन हमें अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलता। काम मात्र क्रिया भर नहीं रह जाता, वह नारी पुरुष के जीवन में चेतना के सुमङ्गलीक पुष्प के रूप में खिल उठता है।

अभीत काम और सुन्दर संतति

काम की प्रगाढ़ता का एक रहस्य सूत्र है प्रेमातिरेक या भय का अभाव। जहाँ स्त्रियों को कोमल शरीर१९, भावुक२०, पयस्या२१ होने के कारण यह बताया कि स्त्री के लिए एक ही वज्रोपस्थ अलं है२२ वहां आग्नेय वीर्य्य२३ से पुरुष दग्ध न होता रहे इस कारण उसे वैदिकों ने बहुजाया२४ वाला बताया। शरीर शास्त्र के

---

१७ पत्नी धाय्या। गो० उ० ३।२१।२२।। ऐ० ३।१३

१८ अन्तभाजो वै पत्न्यः। कौ० १६।७।।

१९ न वै स्त्रियं घ्नन्ति। श० ११।४।३।२।। अवीर्या वै स्त्री। श० २।५।२।३६

२० पुरन्धिर्योषित्याह। योषित्येव रूपं दधाति। तस्मात्स्त्री युवतिः प्रिया भावुका। तै० ३।८।१३।२।।

२१ योषा पयस्या रेतो वाजिनम्। श० २।४।४।२१।।२५।१।१६।।
योषा वाऽआपो वृषाग्निः। श० २।१।१।४।।

२२ तस्माद् न दि बहवः पतयः भवन्ति
एकस्या ... ... शतपथ।।

२३ वीर्य्यं वा अग्निः। तै० १।७।२।२।। गो० उ० ६।७।।
अग्निरु सर्वे कामाः श० १०।२।४।१।। पुरुषोऽग्निः। श० १४।९।१।१५।।

२३ अग्निर्वै मिथुनस्य कर्त्ता प्रजनयिता तत्प्रजामुपाऽऽयन्त्सन्तरामङ्गुलीराञ्चन्त सन्तराम्मेखलान्तात्प्रजामात्मन्कुर्वत तथोऽएवैषऽएतत्प्रजामेवोपैति ।।४।।
सोऽग्निनैव त्वचं विपल्यङ्क्ते......।।५।। श० ३।४।३।४—५।।

२४ तस्मादप्येकस्य पुंसो बह्व्यो जाया भवन्ति। श० ९।४।१।६।।
तस्मादपि स्वया जायया तिर इवैव चिचरिषति। ऐ० ४।१६।।

इस नियम का ध्यान रखते हुए भी वैदिक ऋषि की भावप्रवणता एकपत्नीव्रत को ही अधिक चाहती रही। उसने कन्या के पिता से कन्या को बहुत सुन्दर आशीः दिलवाते हुए कहलवाया :—

"हे पुत्री तेरे घरों में रात्रियों में अचानक घोष न उठें, रोती हुयी स्त्रियाँ प्रवेश न करें। तू रोती हुयी अपना उरस्घात न करे। जा, कन्यके जा तू पतिगृह में जीवपत्नी हो, तुझे सुमनस् संतति प्राप्त हो, तू सुखी हो। तुझे वन्ध्यत्व न देखना पड़े, तू कभी पुत्र-शोक से संतप्त न हो। सिर से उतारे गए माल्य की नाईं सारे पापों से तू मुक्त रहे।"२५

प्रेमातिरेक और काम

अभीत काम ही सुमनस् संतति का कारण हो सकता हैं। विवाह बन्धन में बंधकर ही स्त्री-पुरुष उस उन्मुक्त काम का उपभोग कर सकते हैं जहाँ मात्र आनंद ही आनन्द की अनुभूति होती है जिसे काम के प्रख्यात आचार्य उद्दालक ने ब्रह्मानंद की छाया कल्पना कहा। इसी कारण वर वधू से कहता है कि 'प्रिये, विश्व के सर्वदेव हमारे तुम्हारे हृदयों को मिला दें, मातरिश्वा (वायु) और धाता हमें तुम्हें संयुक्त करें।"२६ "जीवन के मेरे हर व्रत में तुम्हारा हृदय लगा हो, मेरा चित्त तुम्हारे और तुम्हारा चित्त मेरे अनुकूल हो।२७ हम तुम एक वाणी हो जाएं, एक

---

२५ मा ते गृहेषु निशि घोष उत्थानादन्यत्र त्वद्रुदत्यः संविशन्तु । मा त्वं रुदत्युर
आ वधिष्ठा जीवपत्नी पतिलोके विराज पश्यन्ती प्रजां सुमनस्यमानाम् ॥
अप्रजस्यं पौत्रमर्त्यं पाप्मानमुत वा अघम् ।
शीर्ष्णः स्रजमिवोन्मुच्य द्विषद्भ्यः प्रतिमुञ्चामि पाशम् ॥
छान्दोग्य ब्राह्मण १।१।१३-१४॥

२६ समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो हृदयानि नौ ।
सं मातरिश्वा सं धाता समुदेष्ट्री दधातु नौ ॥
छां० ब्रा० १।२।१५॥

२७ मम व्रते ते हृदयं दधातु मम चित्तमनु चित्तं ते अस्तु ।
मम वाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिस्त्वा नियुनक्तु मह्यम् ॥
छान्दोग्य ब्रा० १।२।२१॥

हृदय और एक प्राण हो जाएं।"२८ "और इस प्रकार तुम यहाँ मेरे हृदय प्रदेश में प्रसन्न मन राज करो, यहाँ ठीक मेरे हृदय में प्रिये तुम रमो। मेरे और केवल मेरे में अपनी चेतना को सब स्थानों से मुक्त कर रमाओ। प्रिये तुम मात्र मेरी हो जाओ।"२९

यह वह काव्यात्मक परिकल्पना है जो काम की उच्छृंखलता को कर्तित कर उसे सुघढ़ रूप देती है। जहाँ से 'सुगर्भ' की कल्पना जन्म लेती है। भारतीय समाज की सुस्थिर इकाई 'गृह' या 'परिवार' का जन्म होता है; जहाँ आकर एक नवीन बालिका की केवल कामाग्नि ही शांत नहीं होती; वहां उसका सुमङ्गली वधू३० और परिवार की साम्राज्ञी३१ होने का स्वप्न भी पूरा होता है। उसे काम 'अभिषिक्त पुष्प' के रूप में प्राप्त होता है। उसे वृद्ध जनों से कभी भी पति के उपस्थ से विरहित न होने का३२ ऐसा आशीर्वाद प्राप्त होता है जिसे पाकर वह अपने अंतर्मन में खिल उठती है, कुछ सस्मित सी लजा जाती है। जहां आकर उसके मन में संतति की उत्कण्ठा इतनी तीव्र हो उठती है कि सब उसके लिए विष्णु,

---

२८ यदेतद्धृदयं तव तदस्तु हृदयं मम
यदिदं हृदयं मम तदस्तु हृदयं तव ॥ छान्दोग्य ब्रा० १।३।९॥

२९ इह धृतिरिह स्वधृतिरिह रन्तिरिह रमस्व।
मयि धृतिर्मयि स्वधृतिर्मयि रमो मयि रमस्व ॥ छांदोग्य ब्रा० १।३।१४॥

३० सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत।
सौभाग्यमस्यै दत्त्वायाथास्तं विपरेतन॥ छां० ब्रा० १-२-१४॥

३१ सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु॥ छां० ब्रा० १-२-२०॥

३२ इमामग्निस्त्रायतां गार्हपत्यः प्रजामस्यै जरदष्टिं कृणोतु।
अशून्योपस्था जीवतमस्तु माता पौत्रमानन्दमभि विबुध्यतामियम्॥
छां० ब्रा० १-१-११॥

इमं त उपस्थं मधुना संसृजामि प्रजापतेर्मुखमेतद् द्वितीयम्।
तेन पुंसोऽभि भवासि सर्वानवशान् वशिन्यसि राज्ञी स्वाहा॥
छां०ब्रा० १।१।३॥

त्वष्टा, सरस्वती, धाता आदि देवों से स्वयं गर्भ की कामना करने लगते हैं।३३ गर्भ उसके लिए कोई घटना भर नहीं रह जाता। कोई विवशता नहीं रहती। वह इच्छित पुष्प का रूप धारण करता है। उसमें गर्भ की कामना पति से लेकर परिवार का हर जन करने लगता है। उसका रोम रोम काम-हास की श्री से पुलकित हो उठता है।

स्त्री का शारीरिक सौन्दर्य

काम की इस उद्दीप्तता के लिए शारीरिक सौंदर्य कितना आवश्यक है इस विषय में वैदिक कवि बहुत सचेत थे। पुरुष के मन को मोहने के लिए स्त्री का रूपिणी होना उन्होंने आवश्यक समझा।३४ रूप में मुखाकृति से लेकर संपूर्ण शारीरिक गठन का सुघड़ होना भी उन्हें अनिवार्य लगा। पृथु श्रोणि, नितंबो के मध्य भाग में विमृष्ट और मध्य से संग्राह्य स्त्री काम की दृष्टि से वरीयसी मानी गयी।३५ शरीर में चञ्चल, आभायुक्त, क्षीण (सुकरीरा), घुंघराले बालवाली

---

३३ विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु।
आ सिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते॥ छां० ब्रा० १।४।६॥
गर्भं धेहि सिनीवाले गर्भं धेहि सरस्वति।
गर्भं ते अश्विनौ देवा वा धत्तां पुष्करस्रजौ॥ १।४।७॥ छां०ब्रा०
पुमांसौ मित्रावरुणौ पुमांसावश्विनावुभौ।
पुमानग्निश्च वायुश्च पुमान् गर्भस्तवोदरे॥ १।४।८॥
पुमानग्निः पुमानिन्द्रः पुमान् देवो बृहस्पतिः।
पुमांसं पुत्रं विन्दस्व तं पुमाननुजायताम्॥ १।४।९॥

३४ पुरन्धिर्योषित्याह (यजु० २२।२२) इति योषित्येव रूपं दधाति तस्माद्रूपिणी युवतिः प्रिया भावुका (भवति) श० १३।१।९।६॥

३५ एवमिव हि योषां प्रशंसन्ति पृथुश्रोणिविमृष्टान्तरा सा मध्ये संग्राह्येति। श० १।२।५।१६॥

पश्चाद्वरीयसी पृथुश्रोणिरिति वै योषां प्रशंसन्ति॥ श० ३।५।१।११॥

(सुकपर्दा) स्त्री रूपवती मानी गयी।३६ रूप की ठीक यही प्रशस्ति परवर्ती साहित्य में अन्तरित हुयी। उन्मादी काम के लिए रूप की आवश्यकता से नकार न वैदिक ऋषि कर सका और न आज कोई कर सकता है।

वीर्य्य से प्रदीप्त पुरुष

जहां स्त्री सोमात्मक होने से रूपवती है,३७ वहाँ पुरुष वीर्य्याग्नि से प्रदीप्त रहता है।३८ स्त्री को अवीर्य्या३९ कहकर पुरुष को वीर्य्य विशिष्ट कहा गया। वीर्य्यवान् होने के कारण ही उसकी ऋषभ४० संज्ञा है। वीर्य्य की अग्नि से उपमा देकर अंत में पुरुष को मात्र अग्नि४१क कह दिया गया। इसी कारण जब पुरुष कामातुर हो उठता है तब अपने वीर्य्य की अग्नि के कारण संपूर्ण शरीर से दग्ध हो उठता है। बलवती से बलवती स्त्री को उठा लेने की उसमें शक्ति आ जाती है।(ख) संभवतः इसी कारण वीर्य रक्षण की ओर कामदृष्टि से ही वैदिक ऋषि ने इतना ध्यान दिया। युवावस्था में वीर्य्याग्नि सबसे अधिक प्रदीप्त होती है। इस कारण ही स्त्रियों को प्रथम वयस् के युवक प्रिय होते हैं।४१ग

रेतस् और वीर्य्य

पुरुष के साथ 'रेतस्' और 'वीर्य्य' दो शब्द प्रायः प्रयुक्त हुए हैं। जहाँ इनका यत्र, तत्र पर्याय के रूप में प्रयोग हुआ है वहाँ तकनीकी दृष्टि से इनमें भेद भी है।

---

३६ योषा वै सिनीवाली (यजु० ११।५६) एतद्‌ वै योषायै
समृद्धं रूपं यत् सुकपर्द्दा सुकुरीरा स्वौपश :॥ श० ६।५।१।१०॥

३७ सोम्या हि योषा।शतपथ

३८ वीर्य्यं वा अग्निः। तै० १।७।२।२॥ गो०उ० ६।७॥

३९ अवीर्य्या वै स्त्री श० २।५।२।३॥

४० वीर्य्यं वा ऋषभः। तां० १८।९।१४॥

४१क पुरुषो वा अग्निः। श०१४।९।१।१५॥

ख वीर्यं वज्रः श०।१।३।५।७
वज्रो वा ऽ ओजः। श० ८।४।१।२०॥

ग एष वै सभेयो युवा यः प्रथमवयसी तस्मात्प्रथमवयसी स्त्रीणाम्प्रियो भावुकः श०१२।१।१।८॥

कुमारावस्था से निकलकर बालक जब युवक होने लगता है तब उसमें 'रेतस्' की उत्पत्ति होती है।४२ यह रेतस् अन्य कुछ नहीं अपितु मात्र आपः गत अग्नि की एक अवस्था है। मात्रा भेद से स्त्री पुरुष में 'आपः अग्नि' संयोग 'रेतस्' और 'रजस्' कहा जाता है। पुरुष के 'रेतस्' में अग्नि की मात्रा का आधिक्य होने पर 'वीर्य्य' का निर्माण होता हैं। कह सकते हैं कि अवस्था भेद से 'रेतस्' ही वीर्य्य है। अग्नि 'रूप' का विधायक कहा गया है। आपः परमाणुओं को अग्नि प्रदीप्त करता है— इसी प्रदीप्ति की संज्ञा 'सोम' है। इसीलिए जहाँ स्त्री पयस्या होने पर भी सोम्या कही गयी वहाँ पुरुष के 'रेतस्' को भी सोम कहा गया।४३

काम और प्रजनन

प्रजनन सृष्टि का अनिवार्य विधान है। काम प्रजनन की ही भूमिका है। प्रजनन के बिना काम अपुष्पी रह जाता है। अनंत सृष्टि के प्रजनन के कारण ही ईश्वर या हिरण्ययाण्ड को प्रजापति कहा गया। वैदिक भाषा में सृष्टि के सारे उपकरण इसीलिए 'प्रजा' से अभिहित हुए। सृष्टि के सर्वोत्कृष्ट रूप में प्रजनन के कारण ही स्त्री को 'जाया'४४ और 'पुरुष' को प्रजापति४५ कहा गया।

---

४२ यस्मात्कुमारस्य रेतः सिक्तं न सम्भवति यस्मादस्य मध्यमे वयसि सम्भवति यस्मादस्य पुनरुत्तमे वयसि न सम्भवति। श० ११।४।१।७।।

४३ रेतः सोमः। श० ३।३।२।१।। ३।३।४।२८।। ३।४।३।११।। तै० २।७।४।१।। कौ० १३।७।।

रेतो वा आपः। ऐ० १।३।। आपो हि रेतः। तां० ८।७।६।। यत्पयस्तद्रेतः गो० उ० २।६।। रेतः आज्यम्। श० १।३।१।१८।।

४४क पतिर्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वा स मातरं तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासि जायते तज्जाया भवति यदस्यां जायते पुनः। ऐ० ७।१३।।

ख तद्यदब्रवीत (ब्रह्म) आभिर्वा अहमिदं सर्वं जनयिष्यामि यदिदं किञ्चेति तस्माज्जाया अभवंस्तस्माज्जायानां जायात्वं यच्चासु पुरुषो जायते। गो० पू० १।२।।

४५ पुरुषः प्रजापतिः। श० ७।४।१।१५।। ७।१।१।३७।।

इस प्रजनन के लिए अत्यंत सूक्ष्म रूप से वैदिक चिंतन में कुछ सिद्धांत स्थिर किए गए जो आज भी उतने ही ध्यातव्य हैं जितने कि तब जब काल की उस अनंत दूरी में वे व्याख्यात हुए थे। प्रजनन के लिए वे परिस्थितियाँ निम्न हैं;

क प्रजनन परमाणु जब दोनो ओर से (स्त्री का रजाणु और पुरुष का वीर्य्याणु) गृहीत होते हैं तभी पुरुष का रेतस् प्रजनन में सिद्ध होता है।४६

ख प्रजनन में पुरुष का रेतस् ही प्रधान है।४७ इसी कारण रेतस् को 'पात्नीवत' कहा गया।४८

ग रजाणु और वीर्याणु जब तक आपस में टकराते नहीं तब तक गर्भ नहीं ठहरता अथवा स्त्री द्वारा रेतस् का धारण नहीं होता। पारस्परिक हनन या हिंकृति गर्भ धारण के लिए एक अनिवार्य स्थिति है। ४९

घ जब तक स्त्री के लिए पुरुष पूर्णतया संतप्त नहीं हो लेता तब तक योषा में रेतस् का सिञ्चन नहीं होता।५०

ङ अण्डद्वय ही रेत: सिञ्चन के कारण हैं, जिस पुरुष के आण्ड नहीं होते उसके रेतस् का सिञ्चन नहीं होता।५१

---

४६ उभयत: परिगृहीतं वै रेत: प्रजायते। श०२।३।१।३२॥

४७ रेतो वै प्रजाति:। श०१४।९।२।६॥

४८ रेत: सिक्तिर्वै पात्नीवतग्रह:। कौ० १६।६॥ रेतो वै पात्नीवत: (ग्रह:) ऐ०६।३॥ गो०उ०४।५॥

४९ आनुतुन्नाद्धि रेतो धीयते। तां० १२।१०।११॥
योनिरुलूखलम्.........शिश्नं मुसलम्। श०७।५।१।३८॥
हिंकृताद्धि रेतो धीयते। तां० ८।७।१३॥

५० यदा वै स्त्रियै च पुंसश्च संतृप्यतेऽथ रेत: सिच्यते। श०३।५।३।१६॥

५१ आण्डौ वै रेत:सिचौ, यस्य ह्याण्डौ भवत: स एव रेत: सिञ्चति। श० ७।४।२।२४॥

च योषा में वायु 'रेतस्' का विखण्डन करता है। बिना विकरण के प्रजनन नहीं हो सकता।५२

छ और इस विषय की अंतिम पर सबसे महत्त्वपूर्ण नियामक स्थिति है गृहीत परमाणुओं का न्यूनातिरिक्त होना। 'न्यूनातिरिक्ताद् वै प्रजाः प्रजायन्ते' लगभग सभी ब्राह्मणग्रंथों में बहुलता से प्राप्त होने वाला समान-वाक्य है। शतपथ ने तो स्पष्ट कहा योनि में अतिरेचित होने वाला 'रेतस्' न्यून या व्यृद्ध होने पर ही समृद्ध होता है अन्यथा समान होने पर वह योनि में ही नष्ट हो जाता है।५३

पुरुष के बिना स्त्री गर्भ धारण नहीं कर सकती, वह अपुष्पा, अफला रह जाती है। उसके स्तन पयः धारण नहीं करते,५४ अप्रतिष्ठित रह जाते हैं। रेवती हुए बिना वह माता नहीं हो सकती। प्रजनन के अभाव में माता, जाया, पत्नी आदि कोई भी तो संज्ञा वह प्राप्त नहीं कर सकती। विभिन्न अवस्थाओं में पुष्पित होने वाली चेतना की सभी अवस्थाएं उसके कष्ट-स्वप्न (या अलभ्य स्वप्न) रह जाते हैं। वह श्रद्धा नहीं हो सकती।५५ संतति के रूप में उसका अमृतत्त्व ही मानों उससे छिन जाता है। इसी कारण जहाँ एक ओर उत्थित हस्त ऋषियों ने उच्च स्वर से घोष किया 'स्त्री वै पुरुषस्य प्रतिष्ठा' वहाँ उन्होंने यह निर्घोष भी किया कि पति ही स्त्री की प्रतिष्ठा है।

पतयो ह्येव स्त्रियै प्रतिष्ठा ॥ श० २।६।२।१४॥

---

५२ वायुर्वै रेतसां विकर्त्ता। श० १३।३।८।१॥
प्राणो हि रेतसां विकर्त्ता। श० १३।३।८।१॥
प्राणोदानाऽउ वै रेतः सिक्तं विकुरुतः। श० ६।५।१।५६॥

५३ यद्वै रेतसो योनिमतिरिच्यतेऽमुया तद्भवत्यथ यन्न्यूनं व्यृद्धं तदेतद्वै रेतसः समृद्धं यत्समं बिलम्। श० ६।३।३।२६॥

५४ तस्माद्यदा योषा रेतो धत्तेऽथ पयो धत्ते॥ श०७।१।१।४४॥

५५ श्रद्धां कामस्य मातरं हविषा वर्द्धयामसि। तै० २।८।८॥

और, और वैदिक ऋषि इन दोनों प्रतिष्ठाओं की उपांशुता के लिए मादक काम की प्रशस्ति में गा उठा :

काम वेद ते नाम मदो नामासि समानयामुं सुरा ते अभवत् ।
परमत्र जन्माग्ने तपसो निर्मितोऽसि.........॥

(हे कामदेव, मैं जानता हूँ कि आपका दूसरा नाम मद है, जन्म से ही अग्नि स्वरूप, आपने इस कन्या में जन्म लेकर इसे सुरा (मादक) बना दिया है। तप से निर्मित आप इसे मेरे पास लाएं।) गो० गृह्य सूत्र २।१।१०॥



कम्बोज और भारत के सांस्कृतिक सम्बन्ध

★

डॉ० लोकेशचन्द्र

देश का अभिधायक कम्बोडिया शब्द तक हमने अंग्रेजी से ले रखा है। वहां के वासी अपने देश को कम्बोज कहते हैं। अंग्रेजी में भी सत्रहवीं, अठारहवीं शती में यह शब्द कम्बोज ही था और इसके विभिन्न वर्णयान थे, जैसाकि Cambugia, gambozia, camboge। फ्रेंच के प्रभाव से इसमें d का आगम हुआ और यह cambodja अथवा cambodia बना। फ्रेंच भाषा में 'ज' ध्वनि को अभिव्यक्ति करने के लिए d जोड़कर dj का प्रयोग होता है। आवश्यक है कि हिन्दी में इस देश के नाम के ठीक ठीक उच्चारण से हम कम्बोज लिखें और यहां अंग्रेजी की दासता से मुक्त रहें। पश्चिमी पंजाब में आजतक कम्बोज जाति मिलती है और ये कम्बोजवासियों को भाई मानते हैं। कुछ वर्ष पूर्व कम्बोज के राष्ट्राध्यक्ष सिहानुक ने भारतीय कम्बोजों का शिष्टमण्डल बुलाया और उनका राजकीय सम्मान किया। कम्बोज वंशावलियों के अनुसार उनका उद्भव कम्बु ऋषि से हुआ। कम्बु ऋषि ने मेरा नामक अप्सरा से विवाह करके सूर्यवंश की स्थापना की और तब से देश का नाम कम्बुज अथवा कम्बोज पड़ा। कम्बोज भारत का धर्म बन्धु है। यह हमारा सांस्कृतिक सखा है। कम से कम हम इसका नाम इंग्लैण्ड से उधार न लें।

कम्बोज वह देश है जहां टेलीफोन दूरसब्द, टेलीग्राम (तार) दूरलेख है, टाइपराइटर अंगुलिलेख है और टाइपिस्ट अंगुलिलेखक है। अंगुलिलेख फ्रेंच के doctylograph का अनुवाद है। dactylo का अर्थ है अंगुलि और graph

का अर्थ लेख है। रेल के लिए अयस्मययान है। यह फ्रेंच chemin de fer का अनुवाद है। de fer अयस्मय अर्थात् लोहा (अयस्) मय, chemin यान। साइकिल द्विचक्रयान और रिक्शा त्रिचक्रयान है। कम्बोज भाषा संस्कृत के शब्दों से भरी पड़ी है। शब्दों का उच्चारण कम्बोज शैली से क्लृप्त और संतृत सा किया जाता है; गरुड़ को क्रुत, मुकुट को म्कोट्। समादर की भाषा संस्कृत से अभिप्लुत है और राजकीय अभिलेखों की शब्दावली बाणभट्ट की स्मृतियां अभिनव कर देती है। राजा पोन्ह्या यात् ने सन् १४३४ में कम्बोज की वर्तमान राजधानी की स्थापना की और इसे गौरवान्वित विरुदावली से विभूषित नाम दिया। आधुनिक कम्बोज उच्चारण में—

क्रोङ् चादोमुख मोंकोल सोक्कल कम्बुचाथिप्देइ
सेरेइसोथोर परव इन्तपत बोरेइ रट्ठराचसीमा मोहानोकोर।

संस्कृत वर्णसरणी में—

क्रोङ् चतुर्मुख-मंगल सकल कम्बुजाधिपति
श्रेष्ठ परम इन्द्रप्रस्थ पुरी राष्ट्रराज सीमा महानगर।

हमारी इन्द्रप्रस्थ-पुरी के प्रतिरूप का कितना साहित्यिक नाम है। कथा है कि १३७० में एक महिला वर्तमान नोमपेन-के विहार के स्थल पर रहा करती थी। एक दिन नदी में बहते पेड़ का तना आग जलाने के लिए खींच लाई। कुल्हाड़े से जब चीरा तब अन्दर से भगवान् बुद्ध की प्रतिमा निकली। उसने इस प्रतिमा की स्थापना के लिए कुटिया बनाई। १३७२ में पावन प्रतिमा के लिए विहार बना। लोग तीर्थ यात्रा के लिए आने लगे। क्रमशः बस्ती बन गई, और तीर्थयात्रा पर निर्भर ग्राम बढ़ता ही गया। इसका नाम पनोमपेन पड़ा—पनोम 'पहाड़ी' और पेन 'महिला' का नाम है। चार नदियों के संगम पर स्थित नोमपेन नगरराज है। ये चार नदियां—तोन्ले चादोमुख कहलाती हैं। चतुर्मुख मंगलकारी अभिधान शिवजी की स्मृति दिलाता है और महायान के पश्चिम के रक्षक देव अवलोकितेश्वर की भी। इस प्रकार वर्तमान कम्बोज ने नोमपेन के मंगल-मांगल्य में अपनी आविष्कृति देखी है। नोमपेन स्थित वात् वोतुम् वोत्देइ का शिखर संसार में अनुपम है। वोतुम् वोत्देइ पद्मावती देवी का कम्बोज उच्चारण है। गगन को चूमता हुआ यह धवल

शिखर चन्द्रिकाधौत रजनी में अलौकिक दिव्यता से जगमगा उठता है। चारों ओर छोटे छोटे चैत्य हैं और इनमें से स्तूपायमान केन्द्रीय शिखर 'तन्त्री' सुषमा में विश्वभर के धार्मिक भवनों को परास्त करता है।

भारत भले ही कम्बोज को भूल सा हो, पर कम्बोज दो सहस्त्र वर्षों से भारत के साथ संस्कृति में एकात्म रहा है। चीनी यात्री खाङ्थाई ने फूनान राज्य की स्थापना का प्रथम बार उल्लेख किया है। उनके अनुसार भारत से जाने वाले वणिक्पोतों में कोण्डिन्य नामक ब्राह्मण आए। नागराज की पुत्री अर्थात् स्थानीय राजकुमारी से विवाह किया और देश में राज्य की स्थापना की। अपनी पुत्री को समुचित दहेज देने के निमित्त नागराज भूमि पर व्याप्त पानी पी गए कि उसकी संतति खेती कर सके। इससे स्पष्ट है कि भारतीयों और कम्बोजवासियों में प्रारम्भ से ही विवाह सम्बन्ध स्थापित हुए, भारतीय शासन-पद्धति, सामाजिक व्यवस्था का सूत्रपात हुआ, और जो अमनुष्योचित दलदल की भूमियां थीं उनको वरिष्ठ कृषि पद्धतियों से खेतीयोग्य बनाया गया। विद्वानों ने अनेक तथ्यों के आधार पर कोण्डिन्य का आगमन प्रथम शती में निर्धारित किया है। प्रथम शती के फूनान राज्य की राजधानी का नाम व्याधपुर था। यह वर्तमान नोमपेन से ४० मील दक्षिण की ओर है। पुरातत्ववेत्ताओं ने इस राज्य के समुद्रपत्तन की खुदाई की है और वहां नहरों और नालों की विशाल संहति मिली है जिन से दलदलों का पानी निकाला जाता था और भूमि खेती योग्य बनाई जाती थी। भारतीय आचार्यों और वणिकों ने आकर चावल की खेती का प्रारम्भ भी किया। इतना ही नहीं ख्मेर जाति में भारतीयों का गहरा आनुवंशिक मिश्रण है जो शरीररचना, भाषा, धर्म, स्थापत्य और संस्कृति में स्पष्ट है। इनके कारण फूनान की समृद्धि उत्तरोत्तर बढ़ती गई। तीसरी शती में यहां के राजा ने भारत और चीन दौत्यमण्डल भेजे। चीन को भेजे गए दौत्यमण्डल में संगीतज्ञ भी थे जिन्होंने चीन में भारतीय संगीत का प्रवेश कराया। कुछ वर्षों के पश्चात् चीन से आए दौत्यमण्डल में खाङ्थाई नामक विद्वान् भी थे जिन्होंने फूनान की स्थापना का इतिहास लिखा। इन्होंने लिखा है कि किस प्रकार लोग निर्वस्त्र रहा करते थे और इनके आग्रह से फूनान के राजा ने आदेश निकाला कि जनता अधोवस्त्र पहने। श्री खाङ्थाई ने यह भी लिखा है कि जब कोण्डिन्य आए उन्होंने अपनी नाग वधू को वस्त्र पहनवाए और केशचूड बनाना सिखाया और इस प्रकार फूनान की महिलाओं में वस्त्र धारण का प्रवेश हुआ।

इन्द्रवर्मा प्रथम के पुत्र यशोवर्मा-प्रथम (८८९-९००) ने वास्तविक आंकोर की प्रथम राजधानी का निर्माण किया जिसका नाम यशोधरपुर रखा। आंकोर शब्द संस्कृत 'नगर' का भ्रष्ट उच्चारण है। आंकोर कई शतियों तक ख्मेर राज्य का केन्द्र बिन्दु रहा।

यहां पनोम बाखेड् का शैलोत्तुंग मन्दिर बनाया जिसके पांच शिखर थे। मध्य में सबसे ऊंचा शिखर और चारों दिशाओं में उससे नीचे शिखर। ये मेरु के पांच शिखरों के प्रतिरूप थे। इस मन्दिर के ऊपर से आंकोर वाट के जंगलों और शिखरों का भव्य विहंगम दृश्य है। जयवर्मा पंचम (९६८-१००१) ने बान्तेआइ स्रेइ शिवालय बनवाया जो छोटा है परन्तु आँकोर के मन्दिरकलाप में प्रियतम स्थापत्यरत्न है। मन्दिर के पत्थर अरुणिमा लिए हुए हैं। जगलों की गहरी हरींतिमा में मानो अरुण रत्न खचित हों। कलात्मक समिति, समवाय और सामंजस्य की दृष्टि से कम्बोज देश के ऐतिहासिक अवशेषों में इसकी शोभा अतुलनीय है। ९६७ के शिलालेख से पता चलता है कि प्राचीन काल में इसका नाम ईश्वरपुर था। यहां पौराणिक कथायें विशद शिल्प में दृश्य हो उठी हैं। अप्सरा तिलोत्तमा को पाने के लिए संघर्ष करते हुए सुन्द और उपसुन्द की शिलाकृति विलक्षण है। जब राक्षसों ने संसार में उत्पात मचाने आरम्भ किए, देवों ने तिलोत्तमा को उन्हें प्रलोभित करने और ईर्ष्या-ग्रस्त करने भेजा है। दोनों गदा-ग्राही राक्षसों के मध्य में खड़ी अप्सरा की प्रशान्त मुद्रा उल्लेखनीय है। ग्यारहवीं शती के प्रारम्भमें आंकोर के महत्तम सम्राट् सूर्यवर्मा प्रथम का अभ्युदय हुआ। आधी शताब्दी (१००२-१०५०) के सुदीर्घ शासन काल में इसने ख्मेर राज्य का विस्तार किया। इनके अधीनस्थ चार हजार राजानकों ने जो शपथ ली थी वह शिलालेख में लिपिबद्ध है। यह राजभक्ति की शपथ आज तक कम्बोज में लगभग उसी भाव और शैली में प्रचलित है।

ख्मेर राज्य का सुवर्णिम युग सूर्यवर्मा द्वितीय (१११३-११५०) का काल है। सूर्यवर्मा द्वितीय के इष्टदेव विष्णु थे। इनकी आराधना में आंकोर वाट मन्दिर बनवाया जो एशिया का महत्तम स्थापत्य है। आज तक कम्बोजवासी नहीं मान सके हैं कि आंकोर वाट मनुष्य की कृति है। उनका आख्यान है कि वैभवशाली आंकोर वाट को इन्द्र ने स्वयं बनवाया। इन्द्र ने संपूर्ण मन्दिर को प्रथम

खाड्थाई ने लिखा है कि सब अभिलेख भारतीय लिपि में रखे जाते थे और कलाओं का विकास भी हो चुका था। फूनान काल की बौद्ध मूर्तियां रोमलोक (रामलोक) नामक स्थान से मिली हैं। ये ४-५वीं शती की हैं और इनमें गुप्तशैली परिलक्षित होती है। फूनान के जयवर्मा प्रथम (४७८-५१४) की महारानी ने संस्कृत में सुललित विष्णु-स्तोत्र की रचना की थी। फूनान का व्युत्पत्ति करुङ्न्नाम् पर्वत के राजा अथवा शैलेन्द्र से है। न्नाम् का अपभ्रष्ट चीनी रूप फूनान है। फूनान का साम्राज्य तीसरी शती तक विस्तृत हो चुका था और पांचवीं शती में सारे दक्षिणपूर्वी एशिया व्यापार का केन्द्र था। रूमेर राज्य चेन्ला भी फूनान के अधीन था। चेन्ला के रूमेर अपने को कम्बु की संतति कम्बुज मानते हैं और सूर्यवंशी हैं जबकि फूनान का राजवंश चन्द्रवंशी था।

पांचवीं शती में चेन्ला राज्य बढ़ने लगा और छठी शती में स्वतन्त्र हो गया। चेन्ला की राजधानी श्रेष्ठपुर थी। ४५० में फूनान के युवराज ने चेन्ला की राजकुमारी से विवाह कर चेन्ला को शक्ति का केन्द्र बनाया। फूनान में स्थापित भारतीय परपरा चेन्ला में पुष्पित पल्लवित हुई और सब राजाओं के नामों के अन्त में वर्मा लगा मिलता है। आठवीं शती के अन्त में चेन्ला राज्य जावा के शैलेन्द्रवंश के अधीन हो गया। नवीं शती के अरब यात्री सुलेमान ने चेन्ला के पतन की कथा दी है कि किस प्रकार चेन्ला के युवक राजा ने इच्छा प्रकट की कि वह जावा के नरेश का सिर थाली में देखना चाहता है। जब यह समाचार जावा के नरेश को मिला उसने तुरन्त आक्रमण किया और चेन्ला राजा को परास्त कर उसका सिर काट डाला। और जयवर्मा द्वितीय को गद्दी दी। उसने अपने सैनिक पराक्रम से आंकोर में स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। आंकोर के निकट पनोम कुलेन पहाड़ी पर विराट् शिवलिंग की स्थापना की और एक ब्राह्मण ने जयवर्मा द्वितीय को देवराज बनाया। शिलालेख में कहा गया है कि कम्बोज चक्रवर्तिराज्य बना। 'अत्व' से 'शिव' राज्य के अधिष्ठातृदेव बने। आंकोर में राजधानी बनना कम्बोज इतिहास में विलक्षण घटना थी। प्राकृतिक साधनों की सम्पन्नता से सांस्कृतिक विकास चरम उत्कर्ष को प्राप्त हुआ। जयवर्मा द्वितीय ने नई राजधानी हरिहरालय की स्थापना की जिसके अधिष्ठातृदेव हरिहर अर्थात् शिव और विष्णु थे। इनके उत्तराधिकारी इन्द्रवर्मा प्रथम ने ८८१ में इस नगर के मध्य में बाकौन के उत्तुंग मन्दिर की स्थापना की। यह आंकोर की उत्तुंग मन्दिर शैली का प्रथम उदाहरण था।

मिट्टी से बनाकर फिर अश्मीभूत कर दिया। इधर उधर जो छिद्र दिखाई देते हैं वे देवराज इन्द्र की अंगुलियों के चिन्ह हैं। इन्द्र ने कम्बोज को अपना बज्ररूप खड्ग (प्राः खान) भी दिया जो आज तक राजमहल में सुरक्षित निधि है और कम्बोज का राज्य प्रतीक है। इस प्रकार आंकोर वाट के आश्चर्यजनक निर्माण के अनेक उपाख्यान हैं। आंकोर वाट में रामायण और महाभारत के दृश्य उत्कीर्ण हैं। समुद्र मंथन का ओजस्वी अंकन है। पर आज यहां सब मौन हैं, नीरव का राज्य है।

१९३७ में एक कम्बोजवासी को स्वप्न में भगवान् बुद्ध ने आदेश दिया कि वह आंकोर वाट के पश्चिमी तालाबों में खुदाई करे। उसने जब सूखा तालाब खोदा तो तीन फुट नीचे से विशाल कांस्य शीर्ष मिला। यह अधिभावी प्रतिमा-शीर्ष शायी विष्णु-नारायण का है जो आंकोर वाट के अधिष्ठातृदेव थे। आजतक जितनीमूर्तियां मिली है उनमें यह सबसे बड़ी है और लगता है कि आंकोर वाट के सूने मन्दिरों, नीरव महाशालों और मौन वीथियों को जगन्निवास विष्णु नारायण की यह अकेली मूर्ति व्याप्त कर रही है। विष्णु प्रतिमा का यह महान्, प्रसादमयी, तेजोमय, विष्णु शीर्ष पूर्णतः भारतीय शैली का है। आज भी जंगलों की गहरी हरियाली से धूप में विशाल जगमगाते जल समूह में सहसा निकल कर भीमकाय नाग-पंक्ति से दोनों ओर सुशोभित मार्ग से होता हुआ यात्री जीर्णशीर्ण आंकोर वाट के दो सौ फुट से अधिक ऊंचे केन्द्रीय शिखर से अभिभूत आश्चर्यमनन्त के साक्षात्कार में लीन हो जाता है। आज आंकोर वाट कम्बोज देश का राष्ट्रीय प्रतीक है और कभी कभी ध्वनिप्रभा (sonet lumiere) से जगमगा उठता है।

कम्बोज देश से हजारों संस्कृत शिलालेख मिले हैं। यहां संस्कृत १४वीं शती तक राजभाषा रही। आज तक रामायण रामकेर (रामकीर्ति) के नाम से जनप्रिय काव्य है। रामायण ही अभिनय का मुख्य विषय है। आजकी कथाओं में यक्ष-यक्षणियां, ऋषि-मुनि, इन्द्र, इन्द्रलोक सामान्य तत्व हैं। आजतक मुण्डन संस्कार होता है। इसके लिए होरा अर्थात् ज्योतिषी पुण्य तिथि निकालते हैं। इसमें वाकु अर्थात् शैव ब्राह्मण केश काटते हैं। मुण्डन के उपरान्त ताम्र पात्र में रखे हुए मेकोड़ नदी के जल से अभिषिक्त करते हैं। कम्बोज परम्परा के अनुसार यह जल उतना ही पावन है जितना कि कैलाश पर्वतों के निर्झरों का जल। आज भी कम्बोज में राज्याभिषेक आदि राज्य संस्कार शैव ब्राह्मण करते हैं। राज्याभिषेक

के समय युवराज शिव की प्रतिमा दायें हाथ में और विष्णु की बाएं में लेता है। अभिषेक वैदिक मंत्रों से सम्पन्न होता है। कम्बोज में कुटीरों से महलों तक देवियां नृत्य सीखती हैं। दिन में कृत्य के पूर्व वन्दना, गुरुदक्षिणा, मुद्राएं सब भारतीय कथाकलि की स्मृति जगाती हैं। राजनर्तकियों का दीक्षा-समारोह गुरुवार के दिन होता है। गुरुवार कम्बोज में सब कार्यों के लिए शुभ दिन है, इसका रंग गहरा केसरिया है, यह आनन्दमय और दिव्य दिवस है। आठ दिशाओं में आठ वेदियों पर संस्कार होता है। लाजाएँ चारों दिशाओं में विकिरण करते हैं। अन्त में गुरु छोटी छोटी देवियों के मस्तक पर चावल और सुरभि का तिलक लगा जीवन में सफलता की मंगल कामना करता है। कम्बोज और भारत का ऐतिहासिक सख्य उनके सम्पूर्ण इतिहास में और समस्त जीवन में ओतप्रोत है।

दशक पूर्व राजकुमार नरोदम सिहानुक (शुद्ध संस्कृत रूप नरोत्तम सिंहानुक) चैकोस्लोवाकिया में राजयात्रा में पधारे थे। उनके साथ कम्बोज का राष्ट्रीय अभिनय मण्डल था, जिसमें उनकी सुन्दरी नृत्यप्रवीणा राजपुत्री बुप्फा (पुष्पा) भी थीं। राजकुमार ने चेक अतिथियों से मांग की कि प्राग की नाट्यशाला में कम्बोज कालभिनय हो और वह भी ५-६ घण्टे का। चेक शासक कुछ चिन्तित हुए, क्योंकि कार्यक्रम पूर्व निर्धारित थे, परन्तु महामहिम सिंहानुक के आग्रह से उन्हें स्वीकार करना पड़ा। नृत्य का विषय था रामायण। रामायण के कथानक ही कम्बोज नृत्य के प्राण हैं।

कम्बोज में माता पिता और शिशु सभी मग्न हो, रामायण को देखते हैं, न कोई खिसकता है, न हिलता डुलता है, न बाहर आता जाता है। रामायण कम्बोज के विराट् राष्ट्रीय प्रतीक आंकोर में चित्रित है और उसकी नीरवता आज के कम्बोजवासी के अन्तस्तम आलयविज्ञान में समायी हुयी है।

सबसे अधिक अभिनीत कथानकों में सीताहरण, प्रेक्ष रेआम् अर्थात् श्री राम का दशरथ द्वारा बनवास, सुवान्माछा (सुवर्णमत्स्या) का हनुमान द्वारा विमोहन और लंका में सीता की शोकातुरता और हनुमान का राम के समाचार लाना। राम और रावण का युद्ध अनेक बानर और राक्षस नर्तकों के कारण प्रचण्डता और ओजस्विता से सम्पन्न होता है। कम्बोजवासी दर्शकों की तल्लीनता देखने से ही

अनुमान की जा सकती है। जब पीली मोमबत्तियों की लुप्यमान ज्योति में, धूप की बुझती हुई शीतल सुरभि में, वेषों की झलक, सुवर्णिम मुकुटों की चमक, राक्षसों के जगमगाते मुकुट, वानरों के विकट मुखावटे, तन्वी बालाओं के कुंकुमशोभित मुख-मण्डल तिमिर में ओझल हो जाते हैं तब मुग्ध दर्शक शिवं सुन्दरं में विलीन सहसा समाप्ति की अनुभूति करता है।

आंकोर वाट के भगवान् विष्णु का परमं रूपमैश्वरम् भारत को चुनौती दे रहा है—**तस्मात्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व**।

महाभारतकालीन हरियाणा

★

डॉ० विष्णुदत्त भारद्वाज

'हरियाणा' का उल्लेख 'हरियाणा' नाम से प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं है। महाभारत तथा वैदिक ग्रन्थों[१] में हरियाणा क्षेत्र के लिए 'कुरुक्षेत्र' तथा 'कुरुजांगल' शब्दों का उल्लेख है। लोकपरम्परा में भी हरियाणा के लिए 'देवधरती'

---

१ (क) धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेताः युयुत्सवः.........(गीता, १,१)

(ख) देवा वै सत्रमासत ऋद्धि परिमितं थशस्कामाः। तेऽब्रूवन् यन्नः प्रथमं यश ऋच्छात्, सर्वेषां नस्तत्सहासदिति। तेषां कुरुक्षेत्रं वैदिरासीत्, तस्यै खाण्डवो दक्षिणार्द्ध आसीत्, तूर्घ्नमुत्तरार्द्ध परीणंजघनार्द्धः मख उत्करः तेषां मख वैष्णवं यश आर्च्छत्॥ (तैत्तिरीयआण्यक ५-१-१)

(ग) कुरुक्षेत्रे विसवत्यौ नाम पुष्करिण्यः (बौधायनश्रौतसूत्र १८-४५)

(घ) कुरुक्षेत्रे परिहणिस्थलेऽग्न्याधेयमन्वारम्भणीयान्तं भवति॥

(कात्यायन) २६-६, ३०-३२

(ङ) हरियाणए देसे असंख गाम, गामियण, जणि अणवरम काम परचक्क
विहट्टणु सिरिसंघदृणु जो सुखइणा परिगणियं। रिउ
रुहिरावदृणुविउलु पवदृणु ढिल्ली नामेण जिमणियं॥

-कवि श्रीधर रचितः पार्श्वनाथ चरित्र पुराण

(च) कुरुक्षेत्रेऽमी देवा यज्ञं तन्वते॥ शतपथ ब्राह्मण, ४,१,५,१३

(छ) कुरुक्षेत्रान्तर्गत 'शर्यणावति': ऋग्वेद ८।७।३६; ९।६५।२२; ९।११३।१

(ज) हरियाणा में सरस्वती नदी का उल्लेख : ऋग्वेद ७।२।८; ७।३७।६; ७।९७।१॥

(झ) कुरुक्षेत्र (हरियाणा) इन्द्र, विष्णु और शिव की यज्ञभूमि (यजुर्वेद)

तथा 'अड़क' शब्दों का प्रयोग होता है। लोक में देवधरती कुरुक्षेत्र भूमि को कहते हैं। यहां मृतक की अस्थि का संचय करके गंगा इत्यादि नदी में प्रवाह के लिए नहीं ले जाया जाता है। कुरुजांगल के लिए लोक परम्परा में 'अड़क' शब्द प्रयुक्त होता है। अड़क शब्द संस्कृत के 'अटक' भूमि शब्द से व्युत्पन्न प्रतीत होता है क्योंकि जो वनस्पति जंगल में बिना बोए उगती है, उनको अड़क कहते हैं। अतः अड़क कुरुजांगल का पर्यायवाची सिद्ध होता है। हरियाणा के लिए 'हरियाणक' तथा 'हरिवाणक' का उल्लेख कुछ अर्वाचीन ग्रन्थों तथा शिलालेखों में मिलता है। 'हरियाणक' शब्द हरि और यान से बना प्रतीत होता है। हरियाणक वह क्षेत्र है जो हरि (विष्णु) का यान (स्थान) रहा है। हरि वैदिक कालीन विष्णु (सूर्य) के लिए तथा पौराणिककालीन चतुर्भुज विष्णु के लिए लोक में समझा जाता है। इसका प्रमाण लोक परम्परा में मिलता है। अनादि काल से कुरुक्षेत्र में जो मेला लगता है, वह सूर्यग्रहण पर ही होता है।* चतुर्भुज विष्णु के जीवन से सम्बद्ध स्थानों तथा घटनाओं का उल्लेख हरियाणा के कुछ तीर्थों के रूप में अवशेष है। कसूण ग्राम के 'कायशोधन तीर्थ' में स्नान से हरि का सायुज्य प्राप्त होता है। लोधार के लोकोद्धार तीर्थ में स्नान से वैकुण्ठ की प्राप्ति होती है। इस प्रकार जनता में विष्णु तथा हरि के यान से प्रेम होने के कारण यह स्थल 'हरियाणक' कहलाया।

इसके अतिरिक्त शास्त्रानुशीलन तथा जनश्रुति के आधार पर मेरा यह अनुमान है कि हरियाणा (सं० हरि-यान) में हरि सूर्य तथा विष्णु का प्रतीक है। सूर्यग्रहण पर कुरुक्षेत्र स्नान का महत्त्व, कुरुक्षेत्र के विभिन्न तीर्थों पर सूर्यकुण्डों की विद्यमानता तथा उन कुण्डों पर रविवासरीय स्नान, इस बात की पुष्टि करते हैं कि यह क्षेत्र हरि (सूर्य) क्षेत्र है। जनश्रुति के आधार पर यह क्षेत्र पक्षिराज[2] गरुड़ की तपोभूमि है और यहां पर चतुर्भुज विष्णु ने गरुड़ को हरियाण पद प्रदान कर, इस क्षेत्र को 'हरियाणक' नाम से अभिहित किया। शिवलिंग परम तीर्थों की अपेक्षा विष्णु तीर्थ, (आदित्यसर) इत्यादि अधिक प्राचीन है। कुरुक्षेत्र अर्थात् सारस्वत प्रदेश के ब्राह्मण संवत्सर का आरम्भ सूर्य संक्रांति से मानते हैं। अतः सौर

* सूर्यग्रहण पर श्रीकृष्ण का कुरुक्षेत्र-आगमन (भागवत् दशम स्कन्ध)

२ भागवतपुराण (५-२०-८) के अनुसार गरुड़ का निवास स्थान शाल्मलीद्वीप है जिसमें सरस्वती नदी बहती है।

सम्मत इस क्षेत्र की मूल विशेषता है जिससे यह प्रतीत होता है कि यह क्षेत्र सूर्य क्षेत्र है। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल अपनी पुस्तक 'वामन पुराणानुशीलनम्' में लिखते हैं कि यह पुराण कुरुक्षेत्र भूमि में बिरचित है। इसके अध्ययन से स्पष्ट है कि इस क्षेत्र में सूर्य पूजा का प्रमुख स्थान है अतः कुरुक्षेत्र निस्संदेह हरियाणक अर्थात् सूर्य क्षेत्र है।

पौराणिक काल में इस हरियाणक भूमि में शैव सम्प्रदाय का बोल बाला रहा। कुरुक्षेत्र में दो-दो चार-चार मील की दूरी पर शैवों ने शिवलिंग की स्थापना की जो तीर्थों के नाम से प्रसिद्ध है। थानेश्वर (कुरुक्षेत्र) में स्थाण्वीश्वर महादेव हैं जिनके पश्चिम में कुलेशगण हैं। कुलेश के दक्षिण में रुद्रकर, उत्तर में रावणेश्वर, कुमारेश्वर, विभीषणेश्वर हैं। दक्षिण में हरितेश्वर, कंकालेश्वर, सिद्धेश्वर हैं। अमीण से छह कोस पर सगा में 'विमलेश्वर' तीर्थ है। दाचौर (दाचर) ग्राम में चितंग नदी पर 'दक्षेश्वर' (शिव) तीर्थ है। यहां दक्ष प्रजापति ने यज्ञ किया था। ऐसी जनश्रुति है। सींख के पास हाट में 'हाटकेश्वर' तीर्थ है। हाट के वायव्य में पचनी ढाब में पंचनदी तीर्थ है। जहां भगवान् शंकर ने असुरों को भय देने के लिए पंचनाद किए थे। कोटि तीर्थ में भगवान् शंकर ने करोड़ों तीर्थों को एकत्र किया था। जींद में सोमतीर्थ सोमेश्वर लिंग का प्रतीक है। कक्योर में कामेश्वर (लिंग) तीर्थ है। शेरगढ़ का सरकतीर्थ सरकेश्वर महादेव तीर्थ है।

इस प्रकार पुराण-काल में कुरुक्षेत्र अर्थात् हरियाणा शिवोपासक बन गया **तथा इस क्षेत्र में हरि पूजा का महत्व गौण हो गया।**

हरियाणा शब्द हरि तथा वन के योग से बना है। हरियाणक शब्द का प्रयोग हिसार जिले के लिए हुआ है। हिसार जिले के लोग कहते हैं कि यहां प्राचीन काल में 'हरिया वन' था। इसलिए इस क्षेत्र को हरियाणा कहते हैं। अतः हरिवाणक की उत्पत्ति हरिवन से प्रतीत होती है। क्योंकि हरिवाणक (अड़क) भूमि निवासी अधिकांश हरियाणा (कुरुक्षेत्र) से आकर, वन को काट कर बसे हैं। इस बात की पुष्टि उस क्षेत्र में रहने वाली जातियों के गोत्र, शासन इत्यादि से होती है। नगूरा (करनाल) से आए निवासी हिसार जिले में 'नगूरे' कहाते हैं। क्योंकि कुरुक्षेत्र वैदिक काल से यज्ञभूमि रही है अतः कर्मकाण्ड से विरक्त होकर ज्ञानकाण्ड के अनुयायी लोग कुरुजांगल (हरिवाणक) अर्थात् हिसार के क्षेत्र की ओर

के वनों में ब्रह्म चिन्तन करते थे। इस प्रकार हरियाणा शब्द कुरुक्षेत्र तथा कुरुजांगल दोनों शब्दों को अपने अन्दर समेटे हुआ है जिसके लिए लोक में देवधरती और अड़क शब्द मिलते हैं।

हरियाणा के (कुरुक्षेत्र) के ग्रामों के नाम महाभारत तथा पुराणों में उल्लिखित नामों के विकसित रूप हैं। जिनके अध्ययन से यह पता चलता है कि प्राचीन और आधुनिक स्थान एक ही थे*

(३) कुरुक्षेत्र के थानेश्वर नगर[१] से ईशान कोण में दो कोस की दूरी पर (अरन्तुक यक्ष) 'रत्नक' यक्ष हैं। रत्नक यक्ष से चार कोस 'अमीण' ग्राम है जिसके पास महाभारत काल में 'अदितिवन'[२] था। अमीण से छ कोस पर सगा' ग्राम है जिसके ईशाण कोण में विष्णु का स्थान 'विमल'[३] है। यहां भगवान विष्णु ने विमल ऋषि के निमित्त पैर मार कर मल निकाला था। यहां पर श्रीकृष्ण और बलदेव को एक आसन पर विराजमान देखकर मनुष्य समस्त पापों से मुक्त हो जाता है। सगा[४] से दो कोस मलोलपुर (बहलोलपुर) है जिसके ईशाण कोण में 'परिप्लव'[५] तीर्थ है। यहां महर्षि पाराशर ने घोर तपस्या की थी। इस तीर्थ पर फाल्गुन शुक्ला एकादशी को बड़ा भारी मेला लगता है। 'मलोकपुर' से दो कोस पर वालू ग्राम है। इस ग्राम के वायु कोण में 'पृथ्वी तीर्थ'[६] है जिसे लोक में 'चामसर' कहते हैं। वालू से तीन कोस औगद (आँगध) है। यहां दक्षिण में 'आगप्रतीर्थ' है। ओंगद से पांच

---

१ (क) कुरूणां कृष्टं क्षेत्रं कुरुक्षेत्रम्।
नोट :—महाभारत वनपर्व के लिए 'म';
नारदपुराण के लिए 'ना'; वामन पुराण के लिए 'वा' संकेत प्रयुक्त हैं।
(ख) वा = २२,६०। (ग) म ८१, १७५; म ८३,२०८।
(घ) ना २४,२५,४२॥

२ ना ४३। वा अध्याय ३४,१२।

३ ना श्लोक ४५,४६,४७। वा ३४,१५।

४ मा ८३,१०। मा ८३,११

५ ना ४८,। म ८३,११ एवं १२। वा ३४-१७।

६ ना ५०,५१। म ८३,१३।

कोस की दूरी पर 'दाचौर' 'दाचर' है। वहां चितंग नदी में दक्षेश्वर तीर्थ ७ है। यहाँ दक्ष प्रजापति ने तप किया था। दाचौर से लगभग आठ कोस पर 'सालवण' ग्राम है, जहां 'शालूकिनी' तीर्थ ८ है। महाभारत में यहाँ पर दशाश्वमेध तीर्थ 'दसासमेध' का उल्लेख ह। यहां ब्रह्मा ने देवताओं के साथ दशाश्वमेध यज्ञ किए हैं। सालवण से छह कोस पर 'सफीदम' है। सफीदम के दक्षिण में 'सर्पतीर्थ' ९ और पश्चिम में आस्तिक मुनि का आश्रम है। सफीदम में राजा जन्मेजय ने अपने पिता परीक्षित के डसने का बदला लेने की इच्छा से सर्पदमन यज्ञ किया था। सफीदम से पांच कोस 'सींस' ग्राम है। सींस गांव के सात कोस की दूरी पर दक्षिण दिशा के आग्नेय कोण में 'तरन्तुक यक्ष'१० (तरखू) ह० है।

(४) सींख से दो कोस पर हाट के वायव्यकोण में 'पंचनदी तीर्थ'११ (पंचनीडाव, ह०), कोटितीर्थ तथा उत्तर में 'हाटकेश्वर' 'हटकेसर' ह० तीर्थ हैं। पंचनद तीर्थ पर भगवान शंकर ने असुरों को भय देने के लिए पाँच नाद किए थे। 'कोटितीर्थ' में भगवान शंकर ने करोड़ तीर्थों को एकत्रित किया था। यहाँ पर कोटीश्वर (बृहत पिण्डी) महादेव हैं। श्रावण शुक्ल पक्ष के अन्तिम रविवार को भारी मेला लगता है। हठकेश्वर पर अर्जुन ने अश्वत्थामा को मारने का हट किया था पर श्रीकृष्ण और द्रौपदी के कहने से मणि निकाल कर छोड़ दिया। तभी से उस तीर्थ को 'हटकेश्वर' कहते हैं। यहां पर तीसरा तीर्थ 'वामन' है। यहाँ पर भगवान वामन को सब देवों ने स्थापित किया था। हाट से आठ कोस पर 'आसण' ग्राम के पश्चिम में 'अश्वनीकुमार तीर्थ है। यहां अश्वनीकुमारों ने राजा शर्याति की पुत्री सुकन्या के पातिव्रत्य से प्रसन्न होकर उसके वृद्ध पति च्यवन को इस तीर्थ में स्नान करवा कर वृद्ध से युवा बनाया था। आसण से दो कोस पर 'वराह' है जिसके दक्षिण में 'वाराहतीर्थ' है। भगवान वराह यहीं पर अवतरित हुए थे जिन्होंने हिरण्याक्ष को मार कर पृथ्वी का उद्धार किया। वराह से तीन कोस पर 'पिण्डारा'

---

७ ना—५२। वा ३४,२०।

८ ना ५३। म ८३,१३-१४। वा ३४,२१।

९ ना ५४। म ८३,१५। वा ३४,२२

१० म ८३,१५। वा ३४,२३

११ ना ५६,५७। म ८३,१६। वा ३४-२५।

के उत्तर में 'पिण्डारक, सोमतीर्थ' है। महर्षि कण्व सत्युग में सोमतीर्थ पर स्नान करने आए थे। सोमावती अमावस्या पर यहां बहुत बड़ा मेला लगता है। पिण्डारा से ३ कोस पर 'जींद'१२ है जिसके उत्तर में 'सोम तीर्थ' (सोमेश्वर) है। जींद से दो कोस पर 'हवकस' में दक्षिण दिशा में 'एकहंस'१३ तीर्थ है जिसे 'ढुंढू' कहते हैं। महाभारत युद्ध के अन्त में भयभीत दुर्योधन इस तीर्थ में छिप गया था, ढूंढने पर वह यहाँ मिला। फिर यहीं पर युद्ध करता हुआ भीमसेन द्वारा मारा गया। ढुंढु के निकट ही 'कृतशोच१४ पुनः पुनः' तीर्थ है जिसे 'नृसिंह (नरसी) ढाब' भी कहते हैं। भगवान नृसिंह ने हिरण्यकशिपु को मार कर यहां रक्तपूर्ण हाथ बार बार धोये थे। कृतशौर्य के उत्तर में 'मूंजवट१५ तीर्थ है। यहीं पर महाग्राहिणी यक्षिणी ह्रद है। यहां से लगभग दो कोस पोकरखेड़ी है जिसके पश्चिम में 'पुष्करतीर्थ'१६ है। पोकरखेड़ी से एक कोस की दूरी पर 'रामरा'१७ है। रामरा (रामह्रद) के पूर्व में 'यज्ञकुण्ड' कपिलयक्ष१८ तथा उसकी पत्नी उलूखलमेखला है। कपिल यक्ष के उत्तर में सन्निहित और रामह्रद तीर्थ (रामरिदं,) १९ है।

(५) रामरा से पाँच कोस पर बरसोला ग्राम है जिसके दक्षिण में 'वंशमूल' तीर्थ है। बरसोला से चार कोस 'कसूण' के पूर्व में 'कायशोधन२० तीर्थ' है। कसूण से आठ कोस पर 'लोहधार' के उत्तर में 'लोकोद्धार तीर्थ है। लोहधार से दो कोस 'वसाण' के उत्तर में 'श्रीतीर्थ'२२ और शालिग्राम तीर्थ है। कसाण से तीन कोस की

---

१२ ना ६४। म ८३,१९-२०।

१३ ना ६५। म ८३,२० वा ३४-३७।

१४ म ८३,२१

१५ ना ६६। म ८३-२२

१६ ना ६८। म ८३, २४-२५।

१७ वा ३५-१

१८ ना ७९-८०। म ८३—२६। वा ३४-३४

१९ ना ७३ म ८३, ४१। वा ३५—१६।

२० म ८३, ४२।

२१ ना ७४। म ८३, ४४—४५। वा ३५—२१।

२२ ना ७५। म ८३, ४६। वा ३५—२२।

दूरी पर 'कलायत' है जिसके दक्षिण में 'कपिलाह्द तीर्थ'२३ है। कलायत से आठ कोस 'सजूमा' के पश्चिम में सूर्यतीर्थ२४ है। सूर्यवन भी इसी ग्राम के निकट रहा है। 'सजूमा' से दो कोस 'गुहणा' है जिसके पश्चिमोत्तर में 'गोभवन'२५ तीर्थ है। यहां भाद्रपद की चतुर्थी को गो मेला लगता है। गुहणा से दो कोस 'सांधण' के पूर्व में 'शंखिनीदेवी२६ तीर्थ' है तथा उत्तर में 'ब्रह्मावर्त तीर्थ' है। सांपण से चार कोस पर बहर ग्राम के उत्तर में सरस्वती के तट पर 'यक्षतीर्थ'२७ है।

(६) बहर से दो कोस पर बभरोत है जिसके वायुकोण में 'ब्रह्मावर्ती तीर्थ' है। बभरोत से तीन कोस पर सोयथा के ईषाण कोण में 'सुतीर्थ'२८ है। सोयथा से एक कोस पर पोलड़था में सरस्वती में इक्षुमती और अंशुमति संगम है। पोलड़था से चार कोस 'कवयोर' में 'कामेश्वर तीर्थ'३० है। कवयोर से चार कोस की दूरी पर रसूलपुर के पूर्व में 'मातृगया तीर्थ'३१ है। रसूलपुर से तीन कोस की दूरी पर सीवण३२ (सीतावन) है। जिसके पश्मोत्तर में स्वानुलोमा पहतीर्थ (साल्लोकी, लोकप्रसिद्ध नाम), पूर्व में 'केशाभ्य' और दक्षिण में 'दशाश्वमेघ' तीर्थ हैं। सीवण के वायुकोण में 'ऋणमोचनतीर्थ' है। सीवण से तीन कोस माणस के पूर्व में 'मानुष'३३ तीर्थ है। मानस से दो कोस गादली के पूर्व में 'आपगा'३४ नदी है। गादली से एक

---

२३ ना ७६। म ८३, ४७। वा ३५—२४।

२४ ना ७८। म ८३, ४८। वा ३५—२६।

२५ म ८३, ५०।

२६ म ८३, ५१।

२७ ना ८१।

२८ म ८३, ५३।

२९ म ८३, ५४।

३० ना ८०।

३१ ना ८१। म ८३, ५८।

३२ म ८३, ५९-६०—६१—६२—६३—६४।

३३ ना—८३। म ८३, ६५—६६।

३४ ना ८४, ८५। म ८३, ६७-६९।

कोस शीलाखंड़ी के वायुकोण में 'ब्रह्मोदुम्बर तीर्थ'३५ वहीं डोमी में सप्तर्षि कुण्ड है। सिल्होखेड़ी से एक कोस कैथल आकर (वृद्धकेदारशिव, सं०) 'विघवयार' है। कैथल से एक कोस कलसी ढावर है जिसमें 'कलसी तीर्थ'३६ है। 'कलसी' से एक कोस शेरगढ़ के उत्तर में 'शरकतीर्थ'३८ (सरकेश्वरमहादेव), पूर्व मे 'इडास्पद तीर्थ' तथा पश्चिम में त्रय कोटिरुद्रकूप (रुद्रकोटीश्वर) है। कलसी के उत्तर में किवान'४० 'किंजप्य' तीर्थ है। किंजप्य से एक कोस पर सगखेड़ी या ड्योढ़खेड़ी है। ड्योढ़खेड़ी के उत्तर में एक कोस पर 'धन्यजन्मा'४१ तीर्थ है। ड्योढ़खेड़ीं से लगभग दस कोस पर 'पुण्ड्री'४२ के ईशान में 'पुण्डरीक' तीर्थ है। पुंडरी से दो कोस पर मोहणा के ईशान में 'मधुवन'४३ तीर्थ है। यहां दृषद्वती और कौशिकी का संगम है जिसे 'रामसर' कहते हैं। मोहणा से दो कोस ट्योंठा है जहां 'त्रिविष्टप तीर्थ'४४ है।

(७) ट्योंठा से दो कोस पर 'साकरा' के पश्चिम में 'शक्रवर्ततीर्थ'४५ है। साकरा से पांच कोस पर 'फलगू'४६ (फलकी वन, सं•) है। रसीणा से दो कोस 'वस्तली'४७ (व्यासस्थली, सं०) है। वस्तली से तीन कोस 'नीशग' के पश्चिम में 'मित्रकतीर्थ'४८ है। नीशंग से दो कोस 'बरास' (व्यासवन)४९ के पूर्व में 'मनोजवतीर्थ'

---

३५ ना ८८। म ८३—७१।

३६ ना ८९। म ८३, ७३-७४।

३७ ना ९०। म ८३, ७५।

३८ ना ९१। म ८३, ७६।

३९ म ८३, ७७। ना ९४।

४० म ८३, ७८-७९।

४१ म ८३, ९७-९८।

४२ म ८३—८३। ना ९९।

४३ ना १०९।

४४ ना १००। म ८३-८४।

४५ ना १०१

४६ ना १०३। म ८३, ८६—९०।

४७ ना १११

४८ म ८३, ९१-९२।

४९ म ८३, ९३।

है। उत्तर में कोटितीर्थ, ईशान में चम्पकतीर्थ, पूर्व में तिलोत्तमा तीर्थ तथा दक्षिण में श्रीपद तीर्थ में लिंगमणिशद्र हैं। वरास से दो कोस पर सीतामढ़ी में 'वेदतीर्थ'५० हैं। तदनन्तर निगधू ग्राम मे 'ग्राह'५१, 'मुदित' तीर्थ है। निगधू से तीन कोस पर वरसाणा में 'वामनक'५२ तीर्थ है। निगधू से तीन कोस पर बोड़स्याम (बरसाल) है जिसके दक्षिण में 'ज्येष्ठाश्रम'५३ तीर्थ है। वोडश्याम से ग्राधा कोस पर किरमिच के उत्तर में 'कुलंपुनीत'५४ तीर्थ है। (कुलोतारण तीर्थ ह०)। किरमिच से तीन कोस पवणावा ग्राम के पूर्व में 'पवनह्लद'५५ है।

पवणाव से दो कोस पर 'बदलाणा' है जिसके दक्षिण में 'ग्रमृततीर्थ'५६ है। बदलाणा से एक कोस पर 'कोल' की ईषाणाश्रित पूर्व दिशा में कुलोत्तारण तीर्थ (कलणाहार, ह०) है। कोल से ग्राठ कोस पर 'सारसा'५७ के ग्रग्नि कोण में 'शालिहोत्र' तीर्थ है। सारसा से एक कोस पर व्यासखेणी के ईशाण में व्यासहृद तीर्थ (नौडिहा, ह०) है। व्यासखेड़ी के पश्चिम में 'पुनह', 'तापनतीर्थ' है। व्यासखेड़ी से २।। कोस पर संबोली है जिससे चार कोस की दूरी पर गुमथला है। गुमथला के पश्चिम में एक कोस पर 'मालघनखेड़ी' है। मालघनखेड़ी के पूर्व में 'दिगंतापन तीर्थ' है। मालघनखेडी से चार कोस पर 'न्यावघ' (नौच) है। न्यावच से डेढ़ कोस पर कवयोर है। यहां कामेश्वर तीर्थ दक्षिणोत्तर तीर पर है। न्यावच से डेढ़ कोस पर 'वाणपुर' (श्रीतीर्थ) है। वानपुर मे श्रीकुंजतीर्थ५८ (कुंजविहारी, ह०) है। वानपुर से लगभग चौथाई कोस की दूरी पर न्यावच (विहारतीर्थ) है जिसके ईशान में 'नैमिष तीर्थ' है। न्यावच से दो कोस पर 'वेदवती'५९ है, जिसके नैऋत्य

५० म ८३, ९९।
५१ म ८३, १००। ना ११३।
५२ ना ११४-११५
५३ ना ११६, ११७, ११८
५४ ना १२०।
५५ ना १२१
५६ म ८३—१०६।
५७ ना १२२।
५८ म ८३—१०८। १०९।११०।१११।
५९ ना १२४।

कोण में वेदतीर्थ (बिलोंती, ह०) है बिलोंती से १।। कोस पर 'स्थाणा' ग्राम के वायव्याश्रित पश्चिम दिशा में ब्रह्मतीर्थ६० है। थाणा से तीन कोस पर 'गुमथला' है है जिसके पूर्व में 'सोमतीर्थ'६१ है। गुमथला से दो कोस पर 'पंकण'६२ (मांगणा, ह०) ग्राम है। मांगणा ग्राम में 'सप्तसारस्वत तीर्थ' है। मांगणा से दो कोस पर सतोड़ा है। सतोड़ा के उत्तर में 'औशनसतीर्थ', 'शुक्रतीर्थ', 'कपालमोचन तीर्थ' है। सतोड़ा से एक कोस पर गलेठवा गांव में 'अग्नितीर्थ' है। गलेठवा से लगभग एक कोस पर 'पृथूदक'६३ (पिहोवा, ह०) है। जिसके अन्तर्गत हैं— आर्ष्टिषेण तीर्थ', 'देवापितीर्थ', 'कपालमोचन'। १—ब्रह्मयोनि, २—सवाकीर्ण, ३—बृहस्पति, ४—पापान्त, ५—घृतश्रवा, ६—दुग्धश्रवा, ७—मधुश्रवा, ८—कुरुपावन तीर्थ, ९—विश्वामित्राश्रम, १०—वाशिष्ठोपवाह, ११—कृदमकूप, १२—अरुणासंगम, १३—समुद्र चतुष्टय, १४—शतसहस्र, १५—शातकतीर्थ, १६—सोमतीर्थ, १७—रेणुका तीर्थ, १८—प्रतिग्रमोचन तीर्थ, १९—औवसर।

(८) पृथूदक से तीन कोस पर 'उरणाय' है। यहाँ अरुणा संगमतीर्थ६३ है। यहाँ पर पीरजौहड़ी, पीरखुदान, चन्द्रसमुद्र, सूर्य समुद्र नामक तीर्थ स्थान हैं। अरुणा से एक कोस 'संहंसा' है। यहां (शुक्रजोहड़ी) शातिक तीर्थ है और (शतसाहस्त्रिकतीर्थ) संहंसा के पश्चिम की तरफ 'सोमतीर्थ' है। यहां से ४।। कोस 'रणायचा' के नैऋत्यकोण में 'रेणुकाश्रम' है। रणायचा से चार कोस मुरतजापुर है। मुरतजापुर से १।। कोस भूरिश्रवा (मोर, ह०) है। मोर से दो कोस कमोघा है यहाँ महाभारत काल में काम्यक (वन)६५ धाम था। कमोघा से तीन कोस 'ओसर' है जिसके दक्षिण में ज्योतिसर६६ है। ज्योतिसर से दो कोस थानेश्वर है।

---

६० म ८३—१२४।

६१ म ८३—११४। ना १२५।

६२ ना १२५, १२६। म ८३, ११५-११६।

६३ ना १२८-१२९।

६४ ना १३०।

६५ ना १३६।

६६ ना १३७।

थानेश्वर (थानेसर, ह०)

(९) कालका लाईन से दक्षिण और कैथल ब्रांच से उत्तर में स्थित है। इस नगर के उत्तर में स्थाणुतीर्थ६७ है। स्थाण्वीश्वर महादेव के पश्चिम में कुलेशगण हैं, कुलेश के दक्षिण में रुद्रकर है, उत्तर की तरफ रावणेश्वर है। रावणेश्वर के निकट ही कुमारेश्वर, विभीषणेश्वर है। दक्षिण में हरितेश्वर, कंकालेश्वर, सिद्धेश्वर, स्थानेश्वर महादेव के आसपास है। पूर्वोक्त लिंगों के दर्शन के पश्चात् सन्निहित तीर्थ (सनेत) स्नान हैं। फिर करवालारुद्रकूप स्नान है। 'कपारुद्र-ह्रद', 'वायुकुण्ड' की प्रदक्षिणा के पश्चात् पूर्व की तरफ दो कोस पर रत्नुकतीर्थ है।

कुरुक्षेत्र के वन

(१०) कुरुक्षेत्र में प्राचीन काल में सातवन६८ थे जिनके स्थानों पर उनके नाम से आज वहां गांव बसे हुए हैं। काम्यक (धाम) के स्थान पर 'कमोधा' ग्राम है। यह ज्योतिसर से लगभग तीन मील दूर है। अदितिवन के स्थान पर 'अमीण' बसा हुआ है। यह कुरुक्षेत्र से पांच मील दूर दिल्ली अम्बाला रेलवे लाइन पर स्टेशन है। व्यासवन के स्थान पर वरास है जो करनाल से कैथल जाने वाली सड़क पर है। फलकी वन के स्थान पर 'फरल' ग्राम है। यहाँ फल्गु का मेला लगता है। सूर्यवन के पास संजूमा ग्राम है। मधुवन के स्थान पर मोहणा ग्राम है। यह करनाल से कैथल जाने वाली सड़क पर स्थित है। सीतावन 'स्यूण' ग्राम है जो कैथल तहसील में है।

कुरुक्षेत्र में सात नदियां हैं। ये नदियां सरस्वती और दृषद्वती के बीच में वर्षाकाल में बहती हैं। इन नदियों के नाम इस प्रकार हैं :—१—सरस्वती, २—वैतरणी, ३—गंगा मन्दाकिनी, ४—मधुस्रवा, ५—दृषद्वती, ६—कौशिकी, ७—हैरण्यवती।

कुरुजांगल प्रदेश के वन, नदी, पर्वत और नगर

(११) हिसार का समीपवर्ती सघन वन 'बीड़ बवरान' के नाम से प्रसिद्ध

६७ ना १३९—१४२।
६८ ना ३८।

है। सुना जाता है कि यह बीड़ महाभारतकालीन बभ्रुवाहन के नाम से 'बब्रान' बोली जाती है। हिसार दिल्ली से १०२ मील की दूरी पर स्थित है। 'उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार कुरुजनपद में इसुकार या इषुकार नामक 'समृद्ध सुन्दर, और स्फीत नगर था।' जिस प्रकार हांसी का पुराना नाम आसिका था (भंडारकर लेखसूची, संख्या ३२९) उसी प्रकार हिसार का प्राचीन नाम 'ऐषुकारि' ज्ञात होता है, यद्यपि कुछ लोग उसका सम्बन्ध अरबी हिसार से लगाते हैं। (दे० वासु० पा० पृ० ८६) जनपदीय बोली में हिसार को 'हंसार' और हांसी को 'आस्सी' कहते हैं। हांसी में चौपटा बाज़ार में एक विष्णु प्रतिमा है जिसे चन्द्रवंशी राजाओं से सम्बन्धित बताते हैं। तहसील फतेहाबाद और सरसा के भूभाग में 'घग्घर' नदी बहती है। भिवाणी तहसील में भिवानी से लगभग २५ मील की दूरी पर 'तोषाम' का पहाड़ है जिस पर सिद्ध 'मूंगीपा' की समाधि तथा 'पंचतीर्थी' तालाब है। सरसा का संस्कृत नाम शैरीषक है। नकुल दिग्विजय में आता है कि नकुल दिल्ली के पश्चिम की ओर बढ़ा और वह रोहतक होता हुआ मेहम (म० महित्थम) वीरसिरसा (म० शैरीषक) तक गया है। रोहतक (सं० रोहितिक) दिल्ली से ४५ मील दूर है। प्राचीन काल में यौधेयों ने रोहतक को अपनी राजधानी बनाया था। उस समय इस प्रदेश का नाम 'बहुधान्यक' प्रसिद्ध था।

कुरुक्षेत्र की चारों दिशाओं पर चार यक्ष माने गये हैं। इन यक्षों की स्थिति के विषय में विद्वानों, महाभारत तथा पुराणों के विभिन्न मत हैं। मैंने इन यक्षों की स्थिति का निर्धारण विभिन्न ग्रन्थों के आधार पर मान कर उनकी पुष्टि लोक-परम्परा से की है।

नारद पुराणानुकूल अरन्तुक यक्ष पीपली (कुरुक्षेत्र) के समीप है। लोक में इस यक्ष को 'रतनुक', 'रतन' कहते हैं। महाभारत के अनुसार सीख ग्राम के निकट 'तरन्तुक' यक्ष है। लोक में इस यक्ष को 'तरखू' कहते हैं। रामह्रद में (रामरा, ह०), जो जक्क (सं० यक्ष) है उसके लिए नारद पुराण में ('कपिल-यक्ष) शब्द का प्रयोग हुआ है। चौथा यक्ष नारद पुराण के अनुसार मचक्रूक है जो कैथल से आठ मील की दूरी पर बहर में है। महाभारत के तीर्थ वर्णन से मचक्रूक यक्ष अमीणा के पास माना जाता है। परन्तु लोक परम्परा यहां 'मचक्रूक कुण्ड' मानती है। महाभारत में आए कुरुक्षेत्रीय स्थानों के प्राचीन तथा आधुनिक नामों की निम्नलिखित तालिका

के तुलनात्मक अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि यह प्रदेश सूत्रकाल तथा महाभारतकाल में 'आर्य संस्कृति' का केन्द्र रहा है।

महाभारतकालीन हरियाणा के प्राचीन स्थान-नाम

(कोष्ठकों में हरियाणा के आधुनिक स्थान नाम)

१—प्रदिति वन (अमीण), २—दक्षेश्वर लिंग (दाचार) ३—शालूकिनी वन) (सालवण) ४—सर्पदधि (सफीदों), ५—पंचनदी (पंचनी), ६—हाटकेश्वर (हाट), ७—अश्वनीकुमार (आसणा), ८—वराह (बराह) ९—सोमतीर्थ (पिण्डतारक) (पिण्डारा) १०—जयन्ती (जींद), ११—एकहंस (इक्कस), १२—पुष्कर (पौण्करीखड़ी), १३—रामह्लद (रामरा), वंशमूल (बरसोला), १५—कायशोधन (कसूण), १६—लोकोद्धार (लोहधार), १७—सूर्य धाम (सजूमा), १८—गोभवन (गुरुणा), १९—मानुष (माणस), २०—वृद्धकेदार (विधक्यार), २१—कलशी (कलसीढ़ाब), २२—शरक (शेरगढ़), २३—पुण्डरीक (पुंड्री), २४—त्रिविष्टप (ट्योंठा), २५—मधुवन (मोहणा), २६—फलकी वन (सं०) फलगू, २७—व्यासस्थली (सं०) बसतली, २८—व्यासवन (सं०) वरास, २९—मंकण (सं०) माँगड़ा, ३०—पृथूदक (स०) पेहवा, ३१—काम्यक (धाम) (सं०) कमोधा, ३२—सीतावन (सं०) सीवण, ३३—श्रोणिप्रस्थ (सं०) सोनीपत, ३४—पाणिप्रस्थ (सं०) पानीपत।

कुरु जांगल

१—इषुकार (हसुकार) (सं०), हंसार, हिसार, २—आसिका (सं०), आस्सी, हांसी, ३—शैरीषक (सं०) सरसा, सिरसा ४—रोहितिक (सं०) रोहतक, ५—महित्यम् (सं०) मेहम।

महाभारत में इतिहास

★

गुरुदत्त

ग्रन्थ के प्रवक्ता सत्यवती नन्दन महर्षि व्यास के शिष्य वैशम्पायन ने महाभारत के आदि पर्व में महाभारत का परिचय देते हुए कहा है कि इस ग्रन्थ में पूर्ण रूप से अर्थ और धर्म का उपदेश है। इसमें इतिहास है और महा पवित्र मोक्ष दिलाने वाली बुद्धि का भी उपदेश है।

वे लिखते हैं :—

अस्मिन्नर्थश्च धर्मश्च निखिलेनोपदिश्यते।
इतिहासे महापुण्ये बुद्धिश्च परिनैष्ठिकी॥
धर्मशास्त्रमिदं पुण्यमर्थशास्त्रमिदं परम्।
मोक्षशास्त्रमिदं प्रोक्तं व्यासेनामितबुद्धिना॥

(महा भा०—१-१-६२-१७, २३)

इससे पता चलता है कि अमित बुद्धि वाले व्यास जी धर्म शास्त्र, अर्थ शास्त्र, इतिहास और मोक्ष प्राप्ति के उपायों को मानव कल्याण के लिये एक समान आवश्यक मानते हैं। इसी कारण जब उन्होंने महाभारत ग्रन्थ लिखने की कल्पना की तो इन सब विषयों को इस एक ग्रन्थ में ही समाहित कर दिया।

आजके लेखक यह मानते हैं कि इन सब विषयों को पृथक पृथक रखना चाहिये और उनके लिये पृथक पृथक ग्रन्थ लिखे जाने चाहियें। इस बात के विवाद में न पड़ते हुए कि धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और इतिहास का परस्पर कितना सम्बन्ध है और उनको साथ साथ रखने में पाठकों के ज्ञान में कितना लाभ अथवा

कितनी हानि होती है, हम महाभारत ग्रन्थ से इतिहास अंश को पृथक उपस्थित करने का प्रयास कर रहे हैं।

यह कहा जाता है कि प्राचीन आर्यों को इतिहास लिखना नहीं आता था। हम इस कथन को असत्य मानते हैं। हमारा यह मत है कि आर्य लोग इतिहास लिखने की कला को ऐसे ही जानते थे जैसे कि आजकल के लोग जानते हैं। यदि यह कहा जाये कि वे इस कला में वर्तमान इतिहास लेखकों से अधिक निपुण थे तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। उनकी निपुणता का आधार उनका विस्तृत ज्ञान था। साथ ही वे दीर्घ जीवी होने के कारण संसार का अनुभव वर्तमान युग के लेखकों से अधिक रखते थे।

प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इतिहास लिखने का उद्देश्य क्या है? क्या इससे किसी प्रकार का मानव कल्याण होना सम्भव है? यदि है तो इतिहास मनुष्य के दिनानुदिन के कार्यों से सम्बन्धित होना चाहिये। इतिहास का मानव जीवन पर प्रतिबिम्ब पड़ना आवश्यक है। यह कोई ऐसी वस्तु नहीं होनी चाहिये जो उच्च कोटि के विद्वानों की अलमारियों तक ही सीमित रहे। इसका प्रभाव जन-जन के नित्य के कार्य में प्रकट होना चाहिये।

इतिहास को हम जनता के उपयोग की विद्या मानते हैं; इस कारण इतिहास लेखन ऐसे ढंग से होना चाहिये जिसे सामान्य मनुष्य पढ़कर समझ सके।

इतिहास के विषय में इस धारणा को प्रायः सब पुराणादि ग्रन्थों में स्वीकार किया गया है। पुराण, महाभारत, रामायण आदि ग्रन्थ तो एक पग और आगे जाते हैं। वे इतिहास का वर्णन करते करते धर्म, अर्थ, काम इत्यादि विषयों के सत्य तथा अनुभूत तथ्य भी लिखते जाते हैं। इन ग्रन्थों के लेखकों के विचार में ये कथायें अर्थयुक्त और पाठकों के लाभ के लिये हैं। इनसे भी वे वही लाभ उठाना चाहते हैं जो इतिहास लिखने से उपलब्ध होता है।

हम यहां केवल इतिहास के ही विषय में लिखेगें और धर्म, अर्थ इत्यादि विषयों पर लिखी गयी कथाओं का वर्णन नहीं करेंगे। इतिहास को लोक हित में लिखने के लिये यह आवश्यक है कि उन घटनाओं का ही उल्लेख किया जाये जिनसे

संसार में चल रहे जीवन संघर्ष के कारणों, उसके क्रिया-कलापों और उसके परिणामों का पता चले। जिन घटनाओं का जीवन पर कुछ अधिक प्रभाव नहीं पड़ता अथवा जिनका सामान्य जीवन के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध दिखायी नहीं देता, उनका न तो पुराणादि ग्रन्थों में उल्लेख है और न ही हम उनको देकर लेख का विस्तार बढ़ायेंगे।

हम ऊपर वर्णन कर आये हैं कि पुराणादि ग्रन्थों में इतिहास के साथ साथ अर्थ, काम और मोक्ष की व्याख्या में कथायें भी लिखी हुई हैं। यह कथायें, जैसा कि हम बता चुके हैं कि, सत्य विषय का निरूपण करते हुए भी काल्पनिक जैसी हैं। कभी कभी कथायें सत्य होते हुए भी ऐसे ढग से कही जाती हैं कि वे वास्तविकता की सीमा को पार कर जाती हैं। इन कथाओं को देखकर वर्तमान काल के लेखक प्रायः यह समझने लगते हैं कि पुराणादि ग्रन्थ समूचे के समूचे ही काल्पनिक गाथायें हैं; परन्तु इन लेखकों का यह अनुमान ठीक प्रतीत नहीं होता। कारण यह है कि महाभारत, आदि पुराण ग्रन्थों में यह स्वीकार किया गया है कि उनमें इतिहास के अतिरिक्त धर्म, अर्थ आदि विषयों पर भी लिखा गया है। एक तो यह स्वीकार करना होगा कि इन गाथाओं में निरूपित विषय सत्य हैं और दूसरे यह कि इन विषयों को इतिहास अतिरिक्त होने के कारण ही पृथक लिखा गया है।

वर्तमान युग के इतिहासज्ञ और पाठक इतिहास और धर्मादि पर कथाओं में भेद करने का कष्ट नहीं करते। इस कारण वे पूर्ण ग्रन्थ को ही कल्पना मान अस्वीकार कर देते हैं। **वास्तव में पुराणादि ग्रन्थ किसी भी अंश में व्यर्थ नहीं हैं।** इनके प्रत्येक अंश का अपना अपना प्रयोजन है और उस प्रयोजन को समझना-समझाना लेखकों का कर्त्तव्य है।

इतिहास का आरम्भ

हम सर्व प्रथम यह बताना चाहते हैं कि महाभारत के अनुसार इतिहास काल कबसे आरम्भ हुआ है? वर्तमान युग के इतिहास लेखक भारत का इतिहास प्रायः महात्मा बुद्ध के काल से आरम्भ करते हैं। महात्मा बुद्ध के काल से पहले की बातें प्रागैतिहासिक मानते हैं। प्रागैतिहासिक का अर्थ वह यह करते है कि उस काल की घटनाएं विश्वसनीय नहीं हैं और न ही उनके तिथि काल का ज्ञान है। महाभारतादि

ग्रन्थों में कोई भी काल प्रागैतिहासिक नही माना गया। इन ग्रन्थों में किसी घटना के तिथि काल का ज्ञात न होना उस घटना के न घटने में प्रमाण नहीं समझा गया है। साथ ही घटनाओं के क्रम को अधिक महत्व दिया गया है और ठीक तिथि काल को गौण माना गया है।

उदाहरण के रूप में यह तो वर्णन किया गया है कि महाराज दुष्यन्त महाराज शान्तनु से बहुत पहले राज्य करते थे और इन दोनों के बीच में अनेक राजा राज्य करते रहे हैं। यह भी वर्णन किया गया है कि दुष्यन्त के काल में देवताओं और ब्राह्मणों का कितना महत्व था और शान्तनु के काल में यह महत्व कम हुआ था अथवा बढ़ा था? परन्तु यह नहीं बताया गया कि दुष्यन्त से लेकर शान्तनु तक कितने वर्ष व्यतीत हो गये अथवा कितनी पीढ़ियाँ निकल गयीं। महाभारत में इस काल को आंकड़ों में देना आवश्यक नहीं माना गया।

आजकल के इतिहासज्ञ इसको बहुत महत्व की बात समझ सकते हैं। उनके लिये यह जानना और बताना अति आवश्यक है कि दुष्यन्त और शान्तनु में कितनी पीढ़ियाँ निकल गयीं और कितने वर्ष व्यतीत हो गये? महाभारत का लेखक इस गिनती-मिनती को व्यर्थ का प्रयास मानता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह ठीक ठीक तिथि काल के उल्लेख से अधिक महत्व इस बात को देता है कि कौनसी घटना पहले घटी और कौनसी पीछे और दोनों में लगभग कितना अन्तर है?

एक और उदाहरण लिया जा सकता है। सूर्यवंशी मनु राम के पूर्वजों में से थे। मनु के दो वंश चले। एक पुत्र इक्ष्वाकु का वंश और दूसरा लड़की इला का वंश। इक्ष्वाकु के वंश वाले अपने को सूर्य वंशी मानते रहे और इला के वंशज चन्द्र वंशी।

आर्यों में वंश परम्परा पिता से चलती है; इस कारण इक्ष्वाकु ने अपने पिता मनु के पूर्वज सूर्य के वंश से ही अपना वंश चलाया। दूसरी ओर इला का पति बुद्ध, चन्द्र के वंश में था; इस कारण इला की सन्तान चन्द्रवंशी कहलायी। ये दोनों परिवार साथ साथ चलते रहे और इनमें कौनसे राजा पहले हुए और कौनसे पीछे; ये तो स्पष्ट रूप से वर्णित है। परन्तु किसने कितने वर्ष तक राज्य किया और मनु से लेकर राम तक अथवा मनु से लेकर युधिष्ठिर तक कितनी पीढ़ियां व्यतीत हो गयीं, इसका उल्लेख करना आवश्यक नहीं समझा गया।

अतएव प्रागैतिहासिक घटनाओं का नामकरण भारत के प्राचीन ग्रन्थों में नहीं मिलता। महाभारत में भी नहीं है। महाभारत में प्रत्येक ऐतिहासिक घटना को मान्यता दी गयी है।

इस शैली से ज्ञान में लाभ होता है अथवा वर्तमान इतिहास लिखने की शैली से लाभ होता है, कहना कठिन है। दोनों के अपने अपने गुण और अवगुण हैं। प्राचीन शैली से इतिहास में अनावश्यक घटनाओं को सुगमता से छोड़ा जा सकता है और वर्तमान शैली से प्रत्येक घटना का उल्लेख न मिले तो इतिहास लेखकों और पाठकों दोनों के लिये चिन्ता का विषय बन जाता है। प्राचीन शैली के लेखक उन घटनाओं को सुगमता से छोड़ सकता है जिनका मानव जीवन पर किसी प्रकार का विशेष प्रभाव न पड़ा हो अथवा जिससे काल परिवर्तन का भास न हो।

जब इतिहास सहस्रों नहीं वरंच लाखों वर्षों का लिखना हो तब प्राचीन शैली अधिक उपयुक्त प्रतीत होगी और जब केवल एक-दो सौ वर्ष के इतिहास का वर्णन करना हो तब वर्तमान शैली स्वीकार की जा सकती है। इस शैली से लाखों वर्षों का इतिहास नहीं लिखा जा सकता और यदि लिखा जाये तो मनुष्य उससे किसी प्रकार का लाभ नहीं उठा सकेंगे।

महाभारत में इतिहास उस समय से लिखा गया है कि जब अपने सौर जगत् का निर्माण आरम्भ हुआ। आजकल के कुछ लोग इस जगत् निर्माण के इतिहास का विषय नहीं समझते। वे इसे ज्योतिष शास्त्र (astronomy) के नाम से स्मरण करते हैं। इस शास्त्र वाले जगत् निर्माण की एक प्रक्रिया लिखते हैं और इतिहास से पृथक इस कारण मानते हैं कि वह मानव इतिहास से कोई सम्बन्ध नहीं रखता।

वैसे तो प्राचीन भारतीय लेखक भी जगत् रचना के वृत्तान्त को पुराण के नाम से घोषित करते हैं, परन्तु पुराण का अर्थ भी इतिहास ही है। पुराण के लक्षण वायु पुराण में इस प्रकार लिखे हैं।

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च।
वंशानुचरितमन्वेति पुराणं पंचलक्षणम्॥

(वायु०--४-१०)

इसका अर्थ यह है कि पुराण के पांच लक्षण हैं। सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित ; इन सबका वर्णन ही पुराण कहलाता है।

अर्थात् मानव इतिहास के साथ सर्ग-प्रतिसर्ग के इतिहास को सम्मिलित कर दें तो वह पुराण कहलायेगा। सर्ग-प्रतिसर्ग का अर्थ जगत् की उत्पत्ति और प्रलय तक का वृत्तान्त है। अभिप्राय यह कि प्राचीन भारतीय इतिहासकार पुराण को इतिहास से अधिक व्यापक शास्त्र मानते हैं। उनका यह विचार है कि इतिहास तो वृत्तान्त है इस जगत् का, जिसका मनुष्य एक बहुत ही छोटा सा अंश मात्र है। अतएव भारतीय परम्परा के अनुसार सृष्टि के आदि से लेकर सृष्टि के अन्त तक पूर्ण वृत्तान्त इतिहास में लिखा जा सकता है। सृष्टि का आदि उस समय से लिया जाता है जब अव्यक्त से व्यक्त बनना आरम्भ होता है और यह वृत्तान्त तब तक चलता जायेगा जब यह व्यक्त जगत् पुनः अव्यक्त में लीन नहीं हो जायेगा। वर्तमान युग के इतिहासज्ञ इसे हंसी का विषय समझते हैं। वे अपने व्यवहार के दो कारण बताते हैं। एक तो यह कि सृष्टि का आदि किसी लेखक ने देखा नहीं। इस कारण आदि का वृत्तान्त इतिहास का विषय नहीं हो सकता। उनकी हंसी का दूसरा कारण यह प्रतीत होता है कि अव्यक्त के व्यक्त में परिवर्त्तित होने के काल से लेकर ज्ञानयुक्त मानव के उत्पन्न होने तक के काल का वृत्तान्त किसी प्रकार भी मनुष्य के उपकार में योगदान नहीं दे सकता।

भारतीय परम्पराओं के अनुसार दर्शन शास्त्रों की भांति इतिहास भी अनुमान का विषय बन सकता है। इस कारण अनुमान से जिन घटनाओं का पता चल जाये, वह इतिहास का अंग हो सकती है। अव्यक्त से व्यक्त का निर्माण वेदादि प्रमाणों के अतिरिक्त अनुमान प्रमाण से भी सिद्ध होता है। इस कारण इतिहास की अन्य अनेक घटनाओं की भांति सृष्टि रचना भी इतिहास (पुराण) का विषय मानी गयी है।

उदाहरण के रूप में हड़प्पा और मोहनजोदड़ों की खुदाईयों से जो वृत्तान्त प्रचार किया जा रहा है, वह अनुमान की परिधि में ही आता है। यदि इन खुदाईयों से लगाये गए अनुमान को इतिहास माना जा सकता है तो सृष्टि रचना का वृत्तान्त अनुमानित होने पर भी इतिहास ही कहा जाना चाहिये।

यहां एक बात अनुमान-प्रमाण के विषय में भी समझ लेनी चाहिये। युक्ति जब प्रतिष्ठित होती है तब अनुमान कहलाती है। प्रतिष्ठित का अर्थ है कि पूर्व के अनुभवों पर आधारित होना। उदाहरण के रूप में हम नित्य देखते हैं कि जो पैदा होता है वह मरता भी है। अतः राम का पुत्र लव पैदा हुआ था; इस कारण वह मरा भी था। इस प्रकार युक्ति करना अनुमान कहलाता है। और भी उदाहरण लिये जा सकते हैं। यह अनेकों बार देखा जाता है कि धुआं आग से उत्पन्न होता है। अतः किसी दूर के स्थान से उठता धुआं देखकर यह युक्ति करना कि उस स्थान में आग जल रही है, अनुमानित बात मानी जायेगी। इतिहास में भी इस प्रकार के अनुमान लगाये जाते हैं। अतएव सृष्टि रचना का ज्ञान अनुमानित होने पर भी इतिहास ही कहा जायेगा।

यह आवश्यक नहीं कि सबके सब इतिहास की घटनायें आंखों देखी ही लिखी गयी हों। उनमें से अधिकांश दूसरों से सुनी हुई होती हैं परन्तु उनकी सत्यता का निर्णय तो प्रतिष्ठित युक्ति से ही किया जा सकता है। इसका अर्थ यह है कि वर्तमान युग के विद्वानों का यह कहना कि जगत् की रचना किसी ने देखी नहीं; इसलिए यह इतिहास का विषय नहीं, गलत है। इतिहास में भी अनुमान लगाये जाते हैं।

वर्तमान युग के वैज्ञानिकों की हंसी का दूसरा कारण यह है कि सज्ञान मनुष्यों के उत्पन्न होने से पूर्व की सृष्टि के इतिहास का मनुष्यों को कुछ लाभ नहीं है। भारत के प्राचीन विद्वान्, जिनमें महाभारत का लेखक सर्व प्रतिष्ठित है, ऐसा नहीं मानता। भारतीय शास्त्रकार तो यह कहते हैं कि जगत रचना का कारण और प्रक्रिया जानने से मनुष्य को मोक्ष की प्राप्ति होती है। मोक्ष का कुछ भी अर्थ लें, वह कुछ प्राप्त करने योग्य वस्तु अवश्य है। इस मोक्ष की बात के अतिरिक्त भी यदि मनुष्य को यह पता चल जाये कि यह मनुष्य किस प्रकार कहाँ से इस पृथ्वी पर आया है तो यह उसके कल्याण का कारण हो सकता है।

महाभारत के प्रवक्ता इतिहास का आरम्भ उस समय से करते हैं जब कि अव्यक्त से व्यक्त बनना आरम्भ हुआ। अव्यक्त का अर्थ वह सूक्ष्म अवस्था है जो इन्द्रिय गोचर नहीं है और व्यक्त उन पदार्थों को कहते हैं जो मानव इन्द्रियों से प्रत्यक्ष की जा सकती हैं।

युग सिद्धान्त

उस काल को जिसका आरम्भ अव्यक्त से व्यक्त में परिवर्तन के समय होता है और उस काल तक के समय को जब पुनः व्यक्त-अव्यक्त में विलीन होता है, युगों में बांटा गया है। यह माना जाता है कि जगत् की रचना होती है और प्रलय होता है। पुनः रचना होती है और पुनः प्रलय होता है। यह प्रक्रिया अनादि काल से चली आती है और अनन्त काल तक चलती रहेगी। इस प्रकार काल का विभाजन दो कालों में हो जाता है। एक रचना काल और दूसरा प्रलय काल। रचना काल को ब्रह्म-दिन कहते हैं और प्रलय काल को ब्रह्म-रात्रि। यह भी अनुमान लगाया गया है कि ब्रह्म-दिन और ब्रह्म-रात्रि की अवधियाँ एक समान होती हैं। जिस समय अव्यक्त से व्यक्त बनना आरम्भ होता है; इसे ब्रह्म-दिन का आरम्भ कहते हैं और जब रचित जगत् पुनः अव्यक्त में विलीन हो जाता है, उसे ब्रह्म दिन का अन्त अथवा ब्रह्म-रात्रि कहते हैं।

भारतीय मीमांसकों का यह कहना है कि ब्रह्म-दिन के आरम्भ से लेकर ब्रह्म दिन के अन्त तक जगत् की रचना कई स्थितियों में से गुजरती है। मुख्य रूप में उन स्थितियों को चौदह भागों में बाँटा गया है। यह चौदह भाग मन्वन्तर कहलाते हैं। प्रत्येक मन्वन्तर में जगत् की रचना विशेष स्थिति में होती है। यह स्थिति भी सर्वथा स्थिर नहीं है। ऐसा नहीं कि एक मन्वन्तर के आरम्भ में रचना एक स्थिति में आये और पूर्ण मन्वन्तर भर उस स्थिति में रहे तथा मन्वन्तर के समाप्त होने पर एकाएक बदल कर दूसरी स्थिति में चली जाए। मीमांसकों का कहना है कि परिवर्तन की प्रक्रिया ब्रह्म दिन के आरम्भ में शुरु होती है और फिर परिवर्तन चलते रहते हैं और अन्त में दिन के समाप्त होने पर वहीं पहुँच जाती है जहां से आरम्भ हुई थी। अर्थात् व्यक्त से अव्यक्त में बदल जाती है। यह कहा जाता है कि रचना प्रथम सात मन्वन्तरों में व्यक्त से व्यक्ततर अर्थात् और अधिक रूपमय होती जाती है और दूसरे सात मन्वन्तरों में विखण्डित होती हुई अव्यक्त की ओर चल पड़ती है। ब्रह्म दिन के अन्त में पूर्ण रूप से अव्यक्त हो जाती है।

हमारा सौर जगत् ब्रह्माण्ड का एक छोटा सा भाग है। इस महान जगत् को आकाश गंगा कहते हैं। इसे अङ्गरेजी में गेलेक्सी (galaxy) कहते हैं।

इस पूर्ण आकाश गङ्गा की रचना एक ही प्रक्रिया में हो रही है और ब्रह्म दिन इसी का जीवन काल है। इसी को जगत् कहते हैं। सौर जगत् जो अपने सूर्य के चारों ओर घूमने वाले नक्षत्रों का समूह है, आकाश गंगा से बहुत ही छोटा है और इस सौर जगत् में पृथिवी की वही तुलना है जो ऐटलाण्टिक महासागर में एक टैनिस की गेंद की हो सकती है। इस पृथिवी पर हम बसे हुए हैं। जगत् की रचना की प्रक्रिया में एक समय यह पृथिवी बनी है और फिर एक समय यह विनष्ट हो जायेगी। इसके विनष्ट होते ही पूर्ण सौर जगत् तथा पूर्ण आकाश गंगा भी विनष्ट होगी अथवा नहीं, कहा नहीं जा सकता। इस पर भी मीमांसकों का यह कहना है कि जगत् रचना के आरम्भ से लेकर आज तक छः मन्वन्तर व्यतीत हो चुके हैं और सातवां मन्वन्तर चल रहा है। मीमांसकों का अनुमान है कि आठवें मन्वन्तर के आरम्भ में जगत् में ह्रास आरम्भ हो जाएगा और यह ह्रास चौदहवें मन्वन्तर के अन्त में पूर्ण रूप में अव्यक्त में परिवर्तित हो जायेगा।

यह भी अनुमान लगाया गया है कि प्रथम मन्वन्तर में जगत् की कुछ ऐसी स्थिति थी जिसे उषा काल कहा जा सकता है; अर्थात् आकाश गंगा में जितने प्रकाशमान पदार्थ हैं, वे धीरे धीरे अधिक अधिक प्रकाश स्वरूप होते चले गए। उस समय पूर्ण आकाश गंगा एक ही प्रकार का व्यक्त पदार्थ था जो प्रकाशमान था। यह प्रकाशमान पदार्थ प्रथम मन्वन्तर में ऐसे फटा जैसे कि कोई हवाई गोला फटता है। तब आकाश गंगा एक समान न रह कर तीन भागों में बँट गयी। वे पदार्थ जो आकाश में रहते हैं, उनको दिव्य पदार्थ कहते हैं। दूसरे वे पदार्थ जो पृथिवी की भाँति ठोस हो गए और तीसरे वे पदार्थ जो आकाश और पृथिवी के भीतर उड़ते फिरते हैं। यह कई प्रकार की किरणें हैं। इन्हें संस्कृत भाषा में मरुत आदि देवता कहते हैं। अभिप्राय यह कि वह पृथिवी जिस पर हम बसे हुए हैं, दूसरे मन्वन्तर में बनी। तीसरे मन्वन्तर में इस पृथिवी में काठिन्य उत्पन्न हुआ। इस पर भी इसमें से अनेक प्रकार के विस्फोट होते रहे। चौथे मन्वन्तर में इस पृथिवी के चारों ओर वायु मण्डल और जल बना। पांचवें मन्वन्तर में इस पृथिवी पर कहीं से बीज रूप वनस्पतियां आयी। छठे मन्वन्तर में वनस्पतियों के बीजों से यहां वन बन गए। सातवें मन्वन्तर के आरम्भ में मानव सृष्टि हुई। यह माना जाता है कि सृष्टि रचना का यह सर्वोत्कृष्ट काल है और आठवें मन्वन्तर के समय इसमें ह्रास आरम्भ होगा।

सम्भवत: मानव समाज समाप्त होगा और फिर पशु, पक्षी इत्यादि और तदनन्तर धीरे धीरे अन्त में सब दृश्य जगत् अव्यक्त में विलीन हो जायेगा।

यह पूर्ण काल यदि सौर वर्षों में गिना जाए तो कहा गया है कि यह ४,३२,००,००,००० वर्ष होगा।

४,३२,००,००,००० वर्षों के काल को ब्रह्म दिन कहते हैं और इतनी ही लम्बी ब्रह्म रात्रि होगी। इस ब्रह्म दिन को चौदह भागो में बांटें तो एक मन्वन्तर काल बन जाता है। यह लगभग ३,०८५,७१,४२८ वर्ष बनते हैं। ब्रह्म दिन का विभाजन एक अन्य प्रकार से भी किया जाता है। पूर्ण ब्रह्म दिन को एक सहस्र देवयुगों में बांटा गया है। इस प्रकार एक देव युग ४३,२०,००० वर्षों के बराबर होता है। देवयुग को चतुर्युगी भी कहते हैं। इसमें चार युग माने गये हैं। इन युगों के नाम हैं सत् युग, त्रेता युग, द्वापर और कलियुग। सत् युग की अवधि १७,२८,००० वर्ष मानी गयी है। त्रेता युग की अवधि १२,९६,००० वर्ष मानी गयी है। द्वापर की अवधि ८,६४,००० वर्ष मानी है और कलियुग की अवधि ४,३२,००० वर्ष मानी है।

यह माना गया है कि ब्रह्म दिन के छः मन्वन्तर व्यतीत हो चुके हैं। सातवां मन्वन्तर चल रहा है। छः मन्वन्तरों का काल तथा आजतक का व्यतीत काल बनता है लगभग १६,५१,४२,८५,७१,६ सौर वर्ष।

परिशिष्ट

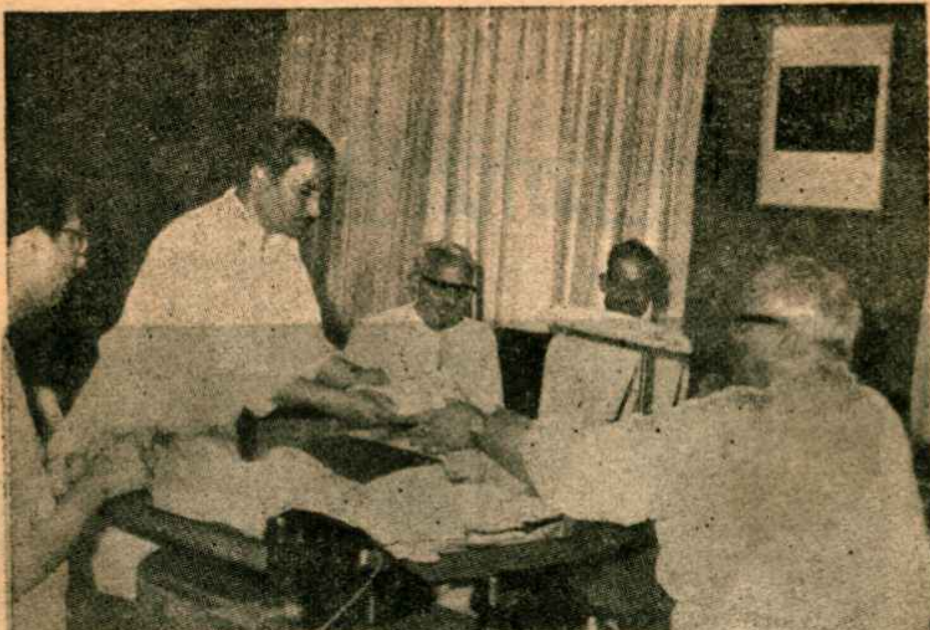
भारतीय साहित्यकार संघ—विवरण



१८५७ के स्वातंत्र्य संग्राम की स्मृति में आयोजित कविगोष्ठी : गोष्ठी का संचालन भारतीय साहित्यकार संघ गाजियाबाद के संयोजक और उत्तर प्रदेश के लोकप्रिय राष्ट्रीय गीतकार श्री कृष्ण मित्र ने किया और इसकी अध्यक्षता आचार्य क्षेमचन्द्र सुमन ने की । चित्र में बाएं से दाएं सर्वश्री मोहन लाल श्रीवास्तव, देवानन्द बलोधी, कृष्णमित्र, क्षितीशवेदालंकार, आचार्य क्षेमचन्द्र 'सुमन' और मुरारी राजीव दिखाई दे रहे हैं ।



राज्य शिक्षा मंत्री श्री भक्त दर्शन को 'श्रेय' की प्रति भेंट करते हुए भा० सा० संघ के मुख्य संयोजक तथा 'श्रेय' के संयुक्त सम्पादक श्री मोहनलाल श्रीवास्तव चित्र में 'श्रेय' के मुद्रक और प्रकाशक श्री राजपाल शास्त्री भक्त दर्शन जी के पास बैठे हैं।



भारतीय साहित्यकार संघ का प्रतिनिधि मंडल दिल्ली के उपराज्यपाल डा० आदित्यनाथ झा से भेंट करते हुए। मुख्य संयोजक श्री मोहनलाल श्रीवास्तव उपराज्यपाल महोदय को भारतीय साहित्यकार संघ का कार्य-विवरण और 'श्रेय' की प्रति दे रहे हैं। सघ के अध्यक्ष डा० रामदत्त भारद्वाज, कोषाध्यक्ष तथा पत्रिका के मुद्रक और प्रकाशक श्री राजपाल शास्त्री पास में बैठे हैं। प्रतिनिधि मंडल में श्री सुशील कुमार जोशी और श्री अश्विनी कुमार वर्मा भी थे।

-: परिचय :-



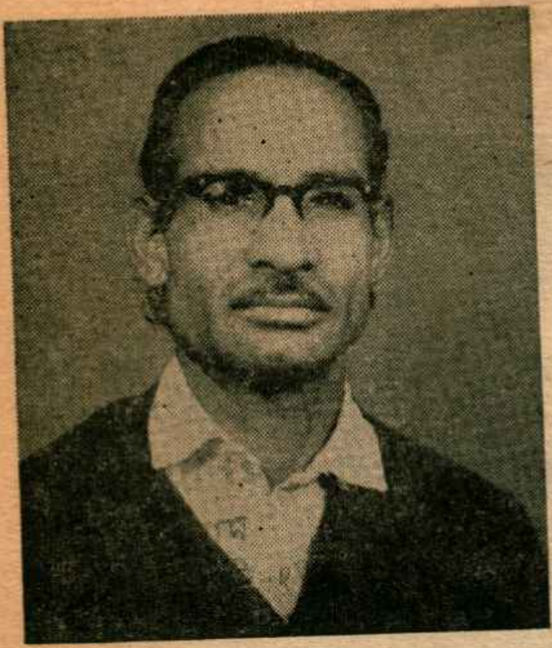
श्री सतीश आहूजा एम० एस० सी०
सहारनपुर, संयोजक विज्ञान परिषद्



श्री शीतल प्रसाद टंडन
सयोजक भा० सा० सं०
सहारनपुर



श्री महेन्द्र द्विवेदी
कार्यालय सचिव भा० सा० सं०
दिल्ली



श्री राजपाल शास्त्री
केन्द्रीय कोषाध्यक्ष, केन्द्रीय संस्थापक सदस्य तथा 'श्रेय' पत्रिका के मुद्रक और प्रकाशक



श्री लक्ष्मीकान्त मुक्त
केन्द्रीय संस्थापक सदस्य तथा भारतीय साहित्यकार संघ शिक्षा-परिषद् के सदस्य

'श्रेय' पत्रिका के १०० रु० देने वाले आजीवन सदस्य

सर्वश्री :—१ मुरारी राजीव, मुरादनगर २ राजपाल शास्त्री दिल्ली
३ मोहन लाल श्रीवास्तव, दिल्ली ४ चौ० लखीराम "
५ सतीश दत्तात्रेय " ६ शिवचरण विनायक "
७ पं० ब्रह्मदत्त भारती " ८ बैरिस्टर उमाशंकर त्रिवेदी नीमच

विशेष सूचना :—एक सौ रुपए देकर 'श्रेय' का आजीवन सदस्य बनने वाले सज्जन को भविष्य में भारतीय साहित्यकार संघ के १० रु० से कम मूल्य वाले प्रकाशन बिना मूल्य लिए भेजे जायेंगे। 'श्रेय' पत्रिका भारतीय संस्कृति और परम्पराओं की आराधना में अपना दूसरा चरण बढ़ा रही है। यह आपका अभीष्ट कार्य है अतः श्रेय को दिया गया प्रत्येक सहयोग आपके कार्य को सहायता देगा।

विनीत
राजपाल, मुद्रक-प्रकाशक

भारतीय साहित्यकार संघ-सदस्यता पत्रक

मुख्य संयोजक

भारतीय साहित्यकार संघ,

श्रीमान्,

भारतीय साहित्यकार संघ के उद्देश्य से मेरी सहमति है, मैं सदस्य बनना चाहता हूं। इस निमित्त यह पत्रक तथा विशेष सदस्यता शुल्क दस रु० साथ ही प्रेषित है।

भवदीय,

प्रथम समर्थक संयोजक.................. पूर्ण हस्ताक्षर....................

द्वितीय समर्थक..................... पता.............................

उद्देश्य-परिचय

१. भारत की अध्यात्म साधनाओं, आस्थाओं तथा आदर्शों पर आधृत साहित्य का भारतीय भाषाओं में निर्माण, प्रकाशन, प्रचार तथा प्रसार।

२. सत्साहित्य के प्रसंग में भारतीय दृष्टि की स्थापना हेतु संगठन तथा संघर्ष और भारतीय आस्थाओं तथा मर्यादाओं पर आधारित साहित्य समीक्षा की स्वस्थ परिपाटी की स्थापना।

३. भारत की प्राचीन विद्याओं की खोज और प्रचार।

४. पठन-पाठन तथा मनन-चिन्तन हेतु स्वाध्याय मंडलों की स्थापना।

५. प्राचीन, मध्य युगीन तथा अर्वाचीन साहित्य के संरक्षण हेतु संग्रहालयों तथा पुस्तकालयों की स्थापना।

६. साहित्यिक अभिवृद्धि तथा वातावरण के लिए सम्मेलन, संगोष्ठी, गोष्ठी, संवाद, अभिनय आदि ऐसे सभी कार्य करने जिनसे उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति होती हो।

भा० सा० सं० पंजीकरण एस० २५६३/स०—दि०

भारत के समाचार पत्र-रजिस्ट्रार द्वारा पंजीकृत
पं० सं० (रजि० सं०) १६७७२/७०

भारतीय साहित्यकार संघ की ओर से श्री राजपाल शास्त्री द्वारा कैप्टन प्रेस (Estd. by Ex-Army Officers) सी २/७ राजौरी गार्डन में मुद्रित तथा ७/२०८ रमेश नगर नई दिल्ली से प्रकाशित